विभोम स्वर

वैश्विक हिन्दी चिंतन की अंतर्राष्ट्रीय पत्रिका

Dhingra Family Foundation
USA

RNI Number : MPHIN/2016/70609
ISSN NUMBER : 2455-9814
वर्ष : 7, अंक : 25
अप्रैल-जून 2022
मूल्य 50 रुपये

शिवना प्रकाशन द्वारा प्रकाशित नई पुस्तकें

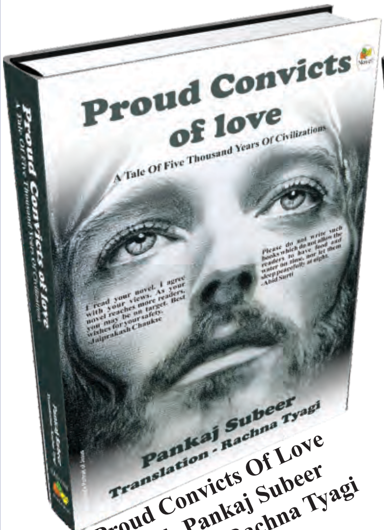

Proud Convicts Of Love
Novel- Pankaj Subeer
Translation- Rachna Tyagi

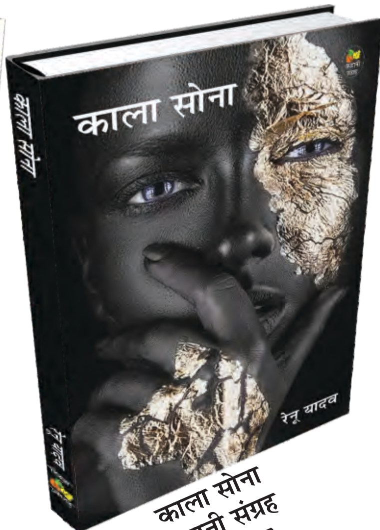

काला सोना
कहानी संग्रह
रेनू यादव

सूखे पत्तों पर चलते हुए
कविता संग्रह
शैलेन्द्र शरण

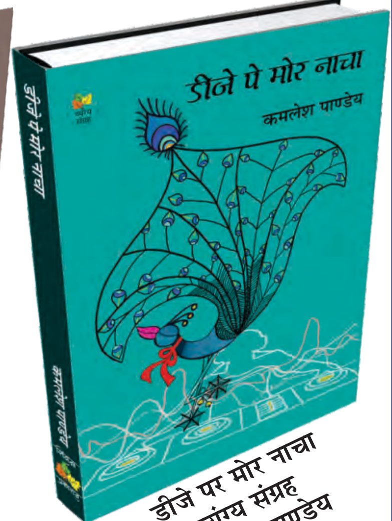

डीजे पर मोर नाचा
व्यंग्य संग्रह
कमलेश पाण्डेय

विमर्श- जिन्हें जुर्म-ए-इश्क़ पे नाज़ था
आलोचना
सुधा ओम ढींगरा

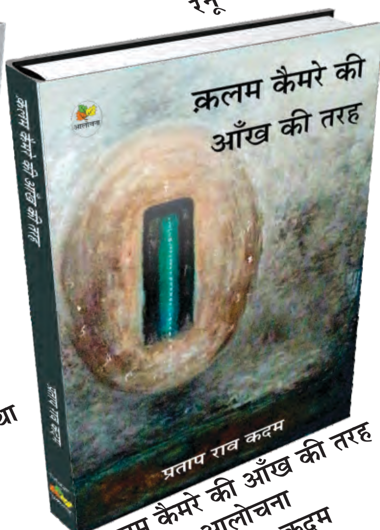

क़लम कैमरे की आँख की तरह
आलोचना
प्रताव राव कदम

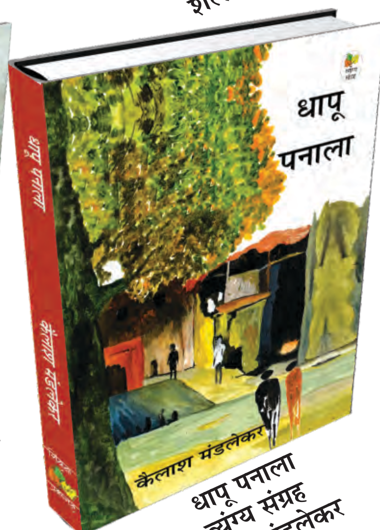

धापू पनाला
व्यंग्य संग्रह
कैलाश मंडलेकर

दो दूनी चार
बाल कविताएँ
पूनम सिन्हा श्रेयसी

रॉकिंग चेयर
कहानी संग्रह
अरुणा सब्बरवाल

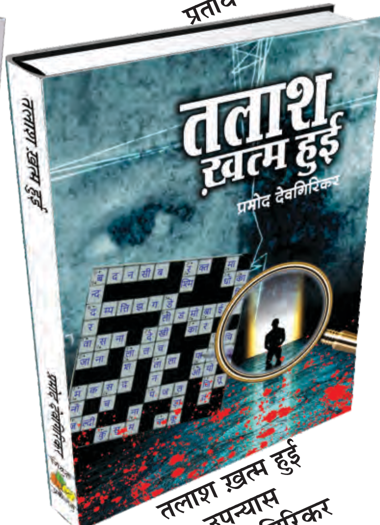

तलाश ख़त्म हुई
उपन्यास
प्रमोद देवगिरिकर

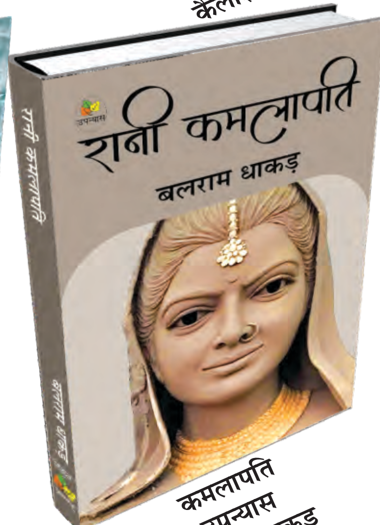

कमलापति
उपन्यास
बलराम धाकड़

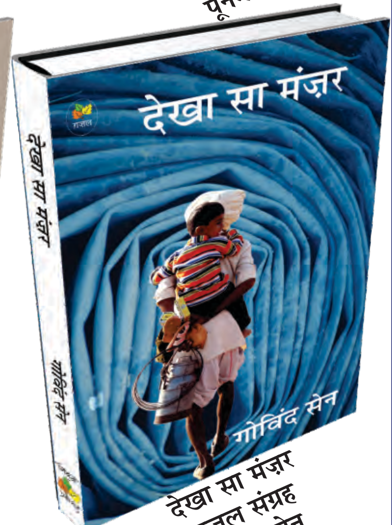

देखा सा मंज़र
ग़ज़ल संग्रह
गोविंद सेन

शिवना प्रकाशन

शिवना प्रकाशन, शॉप नं. 3-4-5-6, सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट, बस स्टैंड के सामने
सीहोर, मध्य प्रदेश 466001
फोन : 07562-405545, 07562-695918
मोबाइल : +91-9806162184 (शहरयार)
ईमेल : shivna.prakashan@gmail.com
http://shivnaprakashan.blogspot.in

amazon
http://www.amazon.in

flipkart.com
http://www.flipkart.com

Mobile - +91-9806162184, +91-6265665580
WhatsApp +91-8819806162
twitter https://twitter.com/shivnac
facebook https://www.facebook.com/shivna.prakashan
YouTube https://www.youtube.com/c/ShivnaCreations
Email- shivna.prakashan@gmail.com

संरक्षक एवं
प्रमुख संपादक
सुधा ओम ढींगरा

संपादक
पंकज सुबीर

क़ानूनी सलाहकार
शहरयार अमजद ख़ान (एडवोकेट)

तकनीकी सहयोग
पारुल सिंह, सनी गोस्वामी
डिज़ायनिंग
सुनील सूर्यवंशी, शिवम गोस्वामी

संपादकीय एवं व्यवस्थापकीय कार्यालय
पी. सी. लैब, शॉप नं. 2-7
सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट
बस स्टैंड के सामने, सीहोर, म.प्र. 466001
दूरभाष : +91-7562405545
मोबाइल : +91-9806162184
ईमेल : vibhomswar@gmail.com

ऑनलाइन 'विभोम-स्वर'
http://www.vibhom.com/vibhomswar.html
फेसबुक पर 'विभोम स्वर'
https://www.facebook.com/vibhomswar

एक प्रति : 50 रुपये (विदेशों हेतु 5 डॉलर $5)
सदस्यता शुल्क
3000 रुपये (पाँच वर्ष), 6000 रुपये (दस वर्ष)
11000 रुपये (आजीवन सदस्यता)
बैंक खाते का विवरण-
Name: Vibhom Swar
Bank Name: Bank Of Baroda,
Branch: Sehore (M.P.)
Account Number: 30010200000312
IFSC Code: BARB0SEHORE

संपादन, प्रकाशन एवं संचालन पूर्णत: अवैतनिक, अव्यवसायिक। पत्रिका में प्रकाशित सामग्री लेखकों के निजी विचार हैं। संपादक तथा प्रकाशक का उनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है। पत्रिका में प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचारों का पूर्ण उत्तरदायित्व लेखक पर होगा। पत्रिका जनवरी, अप्रैल, जुलाई तथा अक्टूबर माह में प्रकाशित होगी। समस्त विवादों का न्याय क्षेत्र सीहोर (मध्यप्रदेश) रहेगा।

विभोम स्वर

वैश्विक हिन्दी चिंतन की अंतर्राष्ट्रीय पत्रिका

वर्ष : 7, अंक : 25, त्रैमासिक : अप्रैल-जून 2022
RNI NUMBER : MPHIN/2016/70609
ISSN NUMBER : 2455-9814

आवरण चित्र
पंकज सुबीर

रेखाचित्र
रोहित प्रसाद

Dhingra Family Foundation
101 Guymon Court, Morrisville
NC-27560, USA
Ph. +1-919-801-0672
Email: sudhadrishti@gmail.com

इस अंक में

विभोम स्वर
वर्ष : 7, अंक : 25,
अप्रैल-जून 2022

संपादकीय 3
मित्रनामा 5
विस्मृति के द्वार
छोटी-छोटी ख़ुशियाँ
उषा प्रियम्वदा 10
कथा कहानी
झंझट ख़त्म
शिखा वार्ष्णेय 16
बहूजी और वह बंद कमरा
डॉ. रमाकांत शर्मा 19
पड़ोस
कमलेश भारतीय 22
अदृश्य डोरियाँ
डॉ.गरिमा संजय दुबे 24
भैड़ी औरत
डॉ.मंजु शर्मा 27
प्लेट में लड़की
उपेंद्र कुमार मिश्र 31
सुरक्षा
डॉ. सुनीता जाजोदिया 34
वृंदा का फैसला
टीना रावल 37
भाषांतर
माँ री!
पंजाबी कहानी
मूल लेखक : कुलबीर बडेसरों
अनुवाद : सुभाष नीरव 40
दिन जो पख़ेरू होते
आह ! बिरजू भय्या...!
ज़ेबा अलवी 44
शहरों की रूह
पहाड़ मुझे बड़े आत्मिक लगते हैं
रेखा भाटिया 52
व्यंग्य
यक्ष फिर हाज़िर है..!!
अलंकार रस्तोगी 55
हम बे रीढ़ ही भले
डॉ.अनीता यादव 57
लघुकथा
आपदा में अवसर
मुकेश पोपली 56
माँ का शॉल
ऋतु गुप्ता 58
अतिक्रमण
भारती शर्मा 64
रेस
सरिता गुप्ता 69
संस्मरण
पुष्प-प्रेम
सेवक नैयर 59
पहाड़ों में पतंगबाज़ी
मदन गुप्ता सपाटू 67
यात्रा डायरी
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे
मुरारी गुप्ता 65
पहली कहानी
फूफी
सुनील चौधरी 70
ललित निबंध
भाषाई सवाल
डॉ. वंदना मुकेश 72
ग़ज़ल
विज्ञान व्रत 74
कविताएँ
खेमकरण 'सोमन' 75
सुमित दहिया 76
अर्चना गौतम मीरा 77
मोतीलाल दास 78
नवगीत
गरिमा सक्सेना 79
आख़िरी पन्ना 80

विभोम-स्वर सदस्यता प्रपत्र

यदि आप विभोम-स्वर की सदस्यता लेना चाहते हैं, तो सदस्यता शुल्क इस प्रकार है : 3000 रुपये (पाँच वर्ष), 6000 रुपये (दस वर्ष) 11000 रुपये (आजीवन सदस्यता)। सदस्यता शुल्क आप चैक / ड्राफ़्ट द्वारा विभोम स्वर (VIBHOM SWAR) के नाम से भेज सकते हैं। आप सदस्यता शुल्क को विभोम-स्वर के बैंक खाते में भी जमा कर सकते हैं, बैंक खाते का विवरण-

Name of Account : Vibhom Swar, Account Number : 30010200000312, Type : Current Account, Bank : Bank Of Baroda, Branch : Sehore (M.P.), IFSC Code : BARB0SEHORE (Fifth Character is “Zero”)

(विशेष रूप से ध्यान दें कि आई. एफ. एस. सी. कोड में पाँचवा कैरेक्टर अंग्रेज़ी का अक्षर 'ओ' नहीं है बल्कि अंक 'ज़ीरो' है।)

सदस्यता शुल्क के साथ नीचे दिये गए विवरण अनुसार जानकारी ईमेल अथवा डाक से हमें भेजें जिससे आपको पत्रिका भेजी जा सके: 1- नाम, 2- डाक का पता, 3- सदस्यता शुल्क, 4- चैक/ड्राफ़्ट नंबर, 5- ट्रांज़ेक्शन कोड (यदि ऑनलाइन ट्रांस्फ़र है), 6-दिनांक (यदि सदस्यता शुल्क बैंक खाते में नकद जमा किया है तो बैंक की जमा रसीद डाक से अथवा स्कैन करके ईमेल द्वारा प्रेषित करें।)

संपादकीय एवं व्यवस्थापकीय कार्यालय : पी. सी. लैब, शॉप नंबर. 3-4-5-6, सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट, बस स्टैंड के सामने, सीहोर, म.प्र. 466001, दूरभाष : 07562405545, मोबाइल : 09806162184, ईमेल : vibhomswar@gmail.com

संपादकीय

विश्व पुरातन युग में लौट रहा है

सुधा ओम ढींगरा
101, गाईमन कोर्ट, मोर्रिस्विल
नॉर्थ कैरोलाइना-27560, यू.एस. ए.
मोबाइल- +1-919-801-0672
ईमेल- sudhadrishti@gmail.com

नैचुरल साइंसिज़ म्यूज़ियम, वाशिंगटन डीसी में डायनासोर के अवशेष देख कर यह समझा जा सकता है कि यह प्रजाति कितनी शक्तिशाली थी और आज जिसका नामोनिशान भी नहीं बचा। यह प्रजाति कहाँ खो गई, क्या कारण थे? खोजकर्ता कुछ भी ढूँढ़ नहीं पाए।

भारत को कभी सोने की चिड़िया कहा जाता था, तक्षशिला और नालन्दा दो विश्वविद्यालय विश्व में प्रसिद्ध थे। तक्षशिला विश्वविद्यालय में पूरे विश्व के 10,500 से अधिक छात्र अध्ययन करते थे। यहाँ 60 से अधिक विषय पढ़ाए जाते थे। 326 ईस्वी पूर्व में विदेशी आक्रमणकारी सिकंदर के आक्रमण के समय यह संसार का सबसे प्रसिद्ध विश्वविद्यालय ही नहीं था, अपितु उस समय के चिकित्सा शास्त्र का एकमात्र सर्वोपरि केंद्र था।

7वीं शताब्दी में भारत आए चीनी यात्री ह्वेनसांग नालन्दा विश्वविद्यालय में न केवल विद्यार्थी रहे, अपितु बाद में उन्होंने एक शिक्षक के रूप में भी यहाँ अपनी सेवाएँ दी थीं।

जब ह्वेनसांग भारत आए थे, उस समय नालन्दा विश्वदविद्यालय में 10,000 छात्र एवं 2000 अध्यापक थे। अनेक पुराभिलेखों और 7वीं सदी में भारत भ्रमण के लिए आए चीनी यात्री ह्वेनसांग तथा इत्सिंग के यात्रा विवरणों से इस विश्वविद्यालय के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है।

भारत जो कभी बुलंदियों पर था, विश्व उसकी सांस्कृतिक और आर्थिक समृद्धता से प्रभावित था। उसकी यह समृद्धि ही बाहरी ताकतों की आँख की किरकिरी बनी। उन्होंने सोने की चिड़िया के पर काट दिए। देश पर अनगिनत हमले किये। सदियों उसे गुलाम बनाए रखा। हालाँकि देशवासी कम ताकतवर नहीं थे, पर आपसी फूट ने ही उन्हें कभी मुसलमानों के और कभी अंग्रेज़ों के गुलाम बनाया। अंग्रेज़ों ने भारत की छवि एक गरीब और पिछड़े हुए देश के रूप में बना दी और इतिहासकारों ने वैसा लिख भी दिया।

डायनासोर प्रजाति के समाप्त होने का पता नहीं चला पर सोने की चिड़िया के मिटने के कारण तो पता हैं, अब फिर क्यों इतिहास को दोहराने की परिस्थितियाँ बनाई जा रहा हैं। क्यों जाति-धर्म में बँट कर देश का अहित किया जा रहा हैं। इस नाज़ुक समय में देश सर्वोपरि होना चाहिए।

कोरोना के बाद पूरे विश्व में आर्थिक मंदी है। महामारी के बाद भारत एक ताकत के रूप में उभर सकता है। दुनिया के लिए चुनौती बन सकता है। बस इस चुनौती को कुछ शक्तियाँ पहले

संपादकीय

ही समाप्त कर देने की कोशिश में है और भीतरघाती लोग उनका साथ दे रहे हैं। जब भी स्वार्थ देश से ऊपर हो जाता है तो इतिहास स्वयं को दोहराता है। आपसी फूट ही बाहरी लोगों को बढ़ावा देती है। महामारी भी तो सौ वर्ष बाद फिर आई, चाहे उसका रूप बदला हुआ है, विज्ञान और चिकित्सीय संसाधनों के बावजूद भारी संख्या में जानें गईं और आर्थिक संकट भी आया।

तक्षशिला और नालन्दा विश्वविद्यालय के बहाने देश के सुनहरे अतीत को इसलिए याद किया कि नालन्दा विश्वविद्यालय में बौद्ध धर्म की शिक्षा के साथ-साथ जैन धर्म और हिन्दू धर्म की शिक्षा भी दी जाती थी। उस समय सब धर्मों का सम्मान किया जाता था।

आज विज्ञान और शिक्षा के युग में मानव की सोच स्पष्ट होनी चाहिए पर व्यक्ति सोच में बेहद अस्पष्ट और संकीर्ण हो गया है, स्वार्थ और शक्ति प्रदर्शन में इतना उलझ गया है, जिससे समस्याएँ विकराल रूप धर रही हैं।

समय-समय पर मैंने अपने संपादकीय में यह इंगित किया है, पूरा विश्व पुरातन युग में लौट रहा है, पूरे विश्व की राजनीति बड़ी तंगदिल होती जा रही है और राजनीतिज्ञों की सोच रूढ़िवादी। चाहे यह युग औद्योगिकी और प्रौद्योगिकी का है। भूमंडलीकरण ने विश्व को समेट कर छोटा कर दिया है और सोशल मीडिया ने विश्व को एक कर दिया है। आज दुनिया के किसी भी देश में कुछ होता है तो पूरी दुनिया को पता चल जाता है।

रूस और यूक्रेन की परिस्थितियाँ दुनिया के जनमानस को परेशान और अशांत कर रही हैं, एक बड़े वर्ग को विश्वयुद्ध एक और दो की तरह ही कुछ होने का डर है। हालात ये हैं कि बड़ी मछली छोटी मछली को निगलना चाहती है। विश्व में शांति बनी रहे, बस यही कामना है!

संगीत जगत् में लता मंगेशकर ऐसा इतिहास लिख गई हैं, जो युगों -युगों तक याद रहेगा। उनके गीत फ़िज़ा में गूँजते रहेंगे और संगीत प्रेमी उन्हें गुनगुनाते रहेंगे...

विभोम-स्वर और शिवना साहित्यिकी की टीम की ओर से लता जी और भप्पी दा को विनम्र श्रद्धांजलि!!

आपकी,

सुधा ओम ढींगरा

एक संतुलन का नाम है प्रकृति, इस संतुलन के कारण ही पर्यावरण है। पारिस्थितिक तंत्र में सब एक-दूसरे से उतना ही लेते हैं, जितनी आवश्यकता है। लेकिन केवल मानव आवश्यकता से कई-कई गुना प्रकृति का दोहन कर ले रहा है। जिस तरह असंतुलन बढ़ रहा है, उससे सबसे ज़्यादा ख़तरा मानव को ही है।

रजत जयंती अंक

बड़े हर्ष से हम आपके साथ यह साझा कर रहे हैं कि विभोम-स्वर और शिवना साहित्यिकी को शुरू हुए छह साल हो गए हैं और यह अंक जो आपके हाथों में होगा, पच्चीसवाँ अंक है यानी रजत जयंती अंक। अब तक का सफ़र हमने आपके स्नेह और सहयोग से पूरा किया है। आशा के साथ-साथ पूरा विश्वास है कि हमारी आगामी यात्रा में भी आप अपना पूरा स्नेह और सहयोग प्रदान करेंगे। धन्यवाद के लिए शब्द कम पड़ रहे हैं...

-विभोम-स्वर और शिवना साहित्यिकी टीम

मित्रनामा

स्तरीय पत्रिका

हमेशा की तरह विभोम-स्वर की कहानियाँ बहुत ही सार्थक हैं। एक ही बैठक में पढ़ गई। एक से बढ़कर एक हैं। ख़ासकर 'नन्हीं आस', 'हाथ तो हैं न', 'नन्हें दरख़्त', 'खिड़की' कहानियाँ दिल को छू गईं। दलजीत कौर का व्यंग्य और अनिल प्रभा कुमार की कविताएँ बेहद पसंद आईं। उषा प्रियम्वदा का विस्मृति के द्वार की हर किश्त पढ़ती हूँ, जिज्ञासा रहती है। एक स्तरीय पत्रिका पढ़वाने के लिए शुक्रिया।

–सरला वर्मा, शिकागो, यू एस ए

000

विभोम-स्वर के जनवरी-मार्च २०२२ अंक में प्रकाशित श्रीमती ज्योत्सना 'कपिल' की कहानी- 'नन्हें दरख़्त' पर खण्डवा में वीणा संवाद प्रकल्प तथा साहित्य संवाद ने चर्चा की।

संयोजक- श्री गोविन्द शर्मा

समन्वयक- श्री शैलेन्द्र शरण

कहानी पाठक की आत्मा को छूती है

विभोम स्वर में प्रकाशित कहानी 'नन्हें दरख़्त', एक गंभीर एवं आवश्यक विषय पर लिखी कहानी है। ऐसा विषय जिसका सरोकार नौनिहालों के भविष्य से है। प्रसिद्धि और रुपयों के लिये बच्चों का वर्तमान और भविष्य दोनों ही किस तरह से कुप्रभावित होते हैं, लेखिका ने बख़ूबी शब्दबद्ध किया है। रियलिटी शोज़, शोहरत और सिनेमाई चमक-धमक के चक्कर में कोमल बच्चों का जीवन धूमिल हो जाता है, उनका बचपन छीन जाता है। लाइट-कैमरा-एक्शन में बचपन का "पैकअप" हो जाता है। बावजूद इसके एक दौड़ लगी है, चकाचौंध की...अपने बच्चों को सितारा बना देने की। धूल में खेलने की आयु में उन्हें आसमान पर बैठा देना चाहते हैं। क्या उनसे खिलौने छीनकर उन्हें ही खिलौना बना देना उचित है?

महँगे गैज़ेट्स, इनडोर गेम कभी भी बच्चों को स्थायी मुस्कान नहीं दे सकते। समय आने पर, ये बच्चे भी उड़ान भरेंगे अभी पतंग तो उड़ा लेने दो!

कहानी में 'चाइल्ड आर्टिस्ट' अथर्व के जीवन में सिर्फ़ अभिनयी मुस्कान रह गई है। एक सीन में उसे खिलौना पाकर ख़ुश होना है, चहकना है। लेकिन वह रोने लगता है। यह रुदन वास्तविक है। ख़ुश होने का तो अभिनय भी वह नहीं कर पाता है।

बहरहाल बचपन छीनने का अधिकार किसी को नहीं, माता-पिता को भी नहीं। पक्षी भी अपने बच्चों को, पँखों के परिपक्व होने से पूर्व उड़ान के लिये बाध्य नहीं करते।

प्रस्तुत कहानी पाठक की आत्मा को छूती है। कथा के अंत तक आते पाठक की आँखें भीग जाती हैं। जब, नन्हा अथर्व कहता है- "गुड़िया, बस स्कूल जाएगी, अपने दोस्तों के साथ खेलेगी। मैं...मैं तो अब बड़ा हो गया हूँ।" इस कहानी के लिये कहानीकार को बधाई।

–वैभव कोठारी

000

एक अच्छा विषय चुना

धूल भरे अति शोभित श्याम जू....

ये पंक्तियाँ भारतीय जीवन संदर्भ में हमारे बच्चों की नैसर्गिक रूप से परवरिश करने का सुंदर उदाहरण है। कहानी नन्हें दरख़्त का मुख्य पात्र जो अपनी बाल लीलाओं से सबका ध्यान आकर्षित कर लेता था, पर केंद्रित है। उसके माँ व पिता वर्तमान टीवी युगीन रियलिटी शो की चकाचौंध में आकर उसकी बाल सुलभ भंगिमाओं को देखकर उसमें एक बाल अभिनेता होने का स्वप्न बुनते हैं, जो धीरे-धीरे सफल होते देख, उसकी उन बाल सुलभ मोहक छवियों वाली छवियों से विज्ञापनों में, फिल्मों में उसके अभिनय से, एक्टिंग से खूब पैसा उनके पास आने लगता है, किन्तु उसका बचपन वे छीन लेते हैं, क्योंकि उसकी पढ़ाई, दोस्तों के साथ खेल कूद, उधम मस्ती जो बच्चों का जीवंत संसार होता है उससे वह बच्चा जिसका नाम अथर्व है वह वंचित हो जाता है। उसके बालपन के जीवन का प्रवाह अर्थ और ग्लैमर की दुनिया की चकाचौंध में छिन जाता है...माँ-बाप इस बाल मनोविज्ञान को न समझ कर उसे सेलिब्रिटी की संज्ञा से नवाज़ते हुए उसे देखकर खुश होते हैं। लेकिन बच्चा अथर्व अपना बचपन छीन जाने से जब उदास होने लगता है तब उसकी माँ को एहसास होता है। ऐसी स्थिति में वे अपनी बेटी गुड़िया की ओर देखते हुए उसे इस रियलिटी शो की अँधी दौड़ में शामिल करने पर विचार करने लगते हैं, तभी अथर्व जब यह देखता सुनता है, तब वह अपनी उम्र से अपने आप को बड़ा समझने लगता है, क्योंकि वह समझ चुका होता है कि वह भी उसके परिवार के अर्थ तंत्र का एक अहम हिस्सा बन चुका है।

विभोम-स्वर के जनवरी-मार्च 2022 अंक में प्रकाशित कहानी लेखिका ज्योत्स्ना कपिल ने एक अच्छा विषय चुना तथा टीवी पर आने वाले ऐसे रिएलिटी शोज़ के जरिये हम किस तरह अपने नन्हें बच्चों से उनका बचपन, मात्र यश लिप्सा और कुछ पैसों के लालच में, छीन रहे हैं, बताता है। ऐसे शो ग्लैमर की दुनिया का छद्म है। यह नन्हें दरख़्तों को अर्थ और ग्लैमर की कुल्हाड़ी से काटना ही है।

–अरुण सातले

000

एक अच्छी मार्मिक कहानी

विभोम-स्वर पत्रिका के जनवरी-मार्च 2022 अंक में ज्योत्सना जी की कहानी - नन्हें दरख़्त पढ़ी।

एक बच्चे में कुदरती अभिनय प्रतिभा को प्रोत्साहित कर उसका विकास करना तो बुरा नहीं, लेकिन उसे व्यावसायिक रूप देकर बच्चे का नैसर्गिक बचपन छीन कर, उसे पैसा कमाने की मशीन बना देना तो उस पर अत्याचार करना हुआ। कहानी के पात्र अथर्व के साथ यही हुआ जो इस कहानी की कथावस्तु है।

कहानी को पढ़कर माता-पिता के द्वारा उसके बचपन की स्वाभाविक गतिविधियों की अनदेखी करने के जो दुष्परिणाम सामने आते हैं और अथर्व के जीवन पर उसका जो बुरा

असर होता है, उन्हें पढ़कर मन आहत होता है। माँ इस बात को समझने लगती है और इस संबंध में अथर्व के पिता से बात करती है तो वह अपनी आर्थिक परेशानियों का रोना रोकर अथर्व से यही कार्य निरंतर जारी रखने पर अड़ जाते हैं। इतना ही नहीं वह अपनी बेटी को भी बाल कलाकार के रूप में अभिनय की दुनिया में धकेल कर उसका बचपन भी छीनने का विचार करते हैं। इस संवाद को अथर्व सुन लेता है और इसका विरोध करता है। वह नहीं चाहता कि उसने जो खोया, वह उसकी बहन भी खो दे। यह कहानी का नाटकीय मोड़ है। वह माता-पिता के इस प्रयास का विरोध कर छोटी बहन के बचपन को बचा लेता है, यह कहकर-कि अभी मैं हूँ ना।

एक अच्छी मार्मिक कहानी जो बालमन की परतों को पाठकों के समक्ष खोलती है और बाल मनोविज्ञान से पाठकों को परिचित करवाती है। भाषा और शिल्प अच्छा है। कहानीकार को बधाई। समन्वयक और संयोजक जी को साधुवाद।

–कुँअर उदयसिंह अनुज

000

बाल मनोविज्ञान

यह कहानी बाल मनोविज्ञान पर आधारित है। अथर्व एक हँसता खेलता सहज सरल बच्चा है। लेकिन पिता और माँ की महत्त्वाकांक्षा उसका बचपन छीन लेती है।यह आज के आर्थिक युग की बहुत बड़ी विडम्बना है। एक बच्चा स्वाभाविक रूप से अपना बचपन भरपूर जीना चाहता है। लेकिन उसके जीवन का प्रत्येक निर्णय माता-पिता लेते हैं। और अधिकांशत: स्वार्थी हो जाते हैं। यदि ऐसा अवसर मिले जैसा अथर्व को फिल्मों में स्टार बाल कलाकार के रूप में मिला।

यह संदेश है उन माँ-बाप को कि चाहे जैसी परिस्थिति हो। आर्थिक कारण को महत्त्व न देते हुए बालक के बचपन से खिलवाड़ नहीं किया जाना चाहिए। दूसरा धन के लोभ लाभ में इतना भी न खो जाना चाहिए कि अपनी नौकरी ही हाथ से चली जाए। और बिना विचारे बच्चों का जीवन/ बचपन दाँव पर लग जाए। कहानी बहुत सुंदर बन पड़ी है। लेखिका को बधाई।

–श्याम सुंदर तिवारी

000

आइना दिखाने की कामयाब कोशिश

वीणा संवाद की श्रृंखला में एक और कहानी का वाचन समीक्षा की पैनी दृष्टि के तहत हर एक शब्द हर एक घटना क्रम को पढ़ना विचारना और अपने शब्दों को, भावनाओं को लेखबद्ध करने का अवसर मिलना ही बड़ी सौगात होती है।

कहानी की सरलता तरलता और वर्तमान समय में एक परिवार किस तरह से उलझ जाता है, बढ़िया चित्रण किया है ज्योत्सना जी ने। एक बार नज़रों ने कहानी को पढ़ना शुरू किया तो अंत कब आ गया पता ही नही चला। आजकल जितने भी लाइव टीवी शोज़ आ रहे हैं; जिनमें छोटे-छोटे बच्चे माँ-बाप के साथ आते हैं जिन्हें कुछ भी नही पता न ही पॉपुलैरिटी और न ही शोषण ही जानते हैं लेकिन शोषित होते ही जा रहे हैं। जिनका बचपन तो आया ही नही और वे बड़े हो जाते हैं। ज्योत्स्ना जी ने बड़ा ही अच्छा विषय उठाया है। माता-पिता को सीख लेना चाहिए कि वे किस तरह से अपनी अपेक्षाओं का बोझ अपने मासूम और नाबालिग बच्चों पर डाल देते हैं। आवश्यकताएँ भी हैं ही लेकिन किसी की भी ज़िंदगी की कीमत पर पूरी नहीं की जानी चाहिए। जो समय बीत गया बचपन पीछे छूट गया उसे कभी कोई भी लौटा नहीं सकता। बाल मनोविज्ञान को अगर समझो तो बालक स्वच्छंदता में अधिक विकसित होता है।अथर्व के माता-पिता को उसे स्कूल से वंचित नहीं करना चाहिए था। बल्कि उसे अपने हुनर के साथ बड़ा होने देते और फिर उसे फ़िल्म इंडस्ट्री ने लाते लेकिन पैसे की भूख और नाम कमाने की होड़ ने उन्हें अँधा, गूंगा, बहरा और संवेदनहीन भी कर दिया।

अथर्व का अपनी छोटी बहन के लिए निर्णय लेना ही उसका समय से पहले बड़ा होना और दुनिया की समझ होना दर्शाता है जो कि बहुत ही मार्मिक है। ज्योत्स्ना कपिल जी को अनेकानेक शुभकामनाएँ। अच्छी सीख और सत्यता से परिचित करवाती हुई कहानी को गढ़ने के लिए। समाज को आइना दिखाने की कामयाब कोशिश की साधुवाद।

–डॉ.रश्मि दुधे

000

हृदयस्पर्शी कहानी

कहानी 'नन्हें दरख़्त' अपनी ही प्रतिभा के बोझ तले कुचले जाते बच्चों की मार्मिक दशा का वर्णन करती एक हृदयस्पर्शी कहानी है। कुछ बच्चे नैसर्गिक रूप से किसी न किसी प्रतिभा के धनी होते हैं और अपने बच्चों को संसार में यश और धन प्राप्त करते हुए सभी माता-पिता देखना चाहते हैं लेकिन समस्या उत्पन्न तब होती है जब उनकी मासूमियत को रौंद कर उस पर पालकों की अतृप्त कामनाओं का बोझ डाला जाता है। वैसे तो हर कला समय तथा श्रम की माँग करती है किंतु कला को निखारना और उसका निर्मम व्यवसायीकरण करना दो भिन्न बातें हैं जिनका वर्गीकरण अधिकांशत: लोग नहीं कर पाते। और सबसे दुखद पहलू यह है कि यह शोषण उनके नितांत अपनों के द्वारा किया जाता है। इस कहानी में भी केंद्रीय पात्र अथर्व के माता-पिता के द्वारा उसे अभिनय के क्षेत्र में उसे एक मात्र धनोपार्जन का साधन समझ कर उसके बचपन के साथ जो अन्याय किया जाता है वह विभिन्न कलाकारों के दुखद प्रसंगों की याद मन में बरबस ताज़ा कर देता है।

अपने मरते बचपन के साथ असमय परिपक्व हुए अथर्व के अपनी बहन की रक्षा हेतु दृढ़ हो जाने का दृश्य कहानी को बहुत मार्मिक बना देता है।

कहानी की शैली बहुत रोचक है। कहानी अपने शीर्षक 'नन्हें दरख्त' के साथ पूरा न्याय करती है। छोटे बच्चे वास्तव में अपने आप में एक पूर्णत: विकसित हो जाने वाले वृक्षों की संभावना लिए हुए होते हैं और यह हमारे समाज जिसमें उनका परिवार भी एक इकाई के रूप में सम्मिलित है की ज़िम्मेदारी है कि

हम उन्हें पनपने के लिए उचित वातावरण दें, न कि उन्हें अपनी लोलुपता की बलि चढ़ा दें। एक संवेदनशील कहानी के लिए लेखिका को हार्दिक बधाई।

–गरिमा चवरे (रतलाम)

000

सार्थक और संवेदनशील कहानी

"ये दौलत भी ले लो, यह शोहरत भी ले लो, भले छीन लो मुझसे मेरी जवानी, मगर मुझको लौटा दो बचपन का सावन, वो कागज़ की कश्ती वो बारिश का पानी...।" सुदर्शन फ़ाकिर साहब की लिखी हुई यह दिल छू लेने वाली ग़ज़ल, इस कहानी को पढ़ते ही फिर होठों पर आ गई। यह कहानी एक अकेले अथर्व की नहीं उन सभी बच्चों की है जिनका बचपन जाने-अनजाने कभी परिस्थितियों का कभी ख़्वाहिशों का शिकार हो जाता है। लेखिका ने बहुत ही प्रभावशाली तरीके से अपनी बात इस कहानी के माध्यम से कही है। लोकेशन पर जाते हुए भी उसे सपना आता है अपने दोस्तों का, अपने स्कूल का ,अपनी टीचर का, पर अफसोस की यह मासूम सपना कठोर महत्त्वाकांक्षाओं से टकराकर क्षत-विक्षत हो जाता है।

मनुष्य को जीवन भर एक दिखावटी दायरे में कैद होकर रहना पड़ता है केवल बचपन ही ऐसा है जो नैसर्गिक और मासूम होता है... यदि वह भी आर्टिफिशियल हो जाए तो अथर्व जैसी छटपटाहट और असहायता जन्म लेती है।

कहानी अंत तक पाठक को बाँधे रखती है और हमारे आस-पास के कई उदाहरणों को जीवंत कर देती है। बचपन की शरारतें, छद्म झगड़े वह धींगा मुश्ती, वह कच्चे आम की चोरियाँ...वह माँजा लूटना पतंग उड़ाना... यह इस उम्र का आनंद तो है ही पर यही दिन आगे के जीवन की कठोरताओं से लड़ने की ताकत भी देते हैं... अफ़सोस की बात है कि अधिकतर बाल कलाकारों के अभिभावक प्रसिद्धि और पैसे की चाह में मासूम चाहतों की बलि चढ़ा देते हैं। इस कहानी का अंत भावुक कर देता है। माँ जैसे ही नन्हीं सान्या के लिए कहती है,"अब मेरी गुड़िया भी वह काम करेगी भैया की तरह टीवी पर आएगी, है न?" तो वह अथर्व जो स्वयं ही छोटा है बोल पड़ता है, "सान्या स्कूल जाएगी अपने दोस्तों के साथ खेलेगी... मैं तो अब बड़ा हो गया हूँ।" इस वाक्य में उसकी helplessness अंदर तक महसूस होती है, समय से पहले की बुज़ुर्गियत... दुखद तो है और वह अपनी बहन के साथ इसका दोहराव नहीं चाहता। सार्थक और संवेदनशील कहानी के लिए लेखिका को बधाई।

–रश्मि स्थापक

000

लेखिका को बधाई

कहानी के समीक्षात्मक दृष्टिकोण में हर शब्द को पढ़कर विचारने भावनाओं को लेखनबद्ध कर संस्मरणात्मक तौर पर सहेजने का अवसर प्राप्त हुआ। कहानी एक अथर्व की नहीं है उन सभी बच्चों की है जिनका बचपन जाने-अनजाने परिस्थिति वश ख़्वाहिशों का शिकार हो जाता है। लेखिका ने अपनी बात को प्रभावशाली ढंग से कहा है। सपना हर इंसान की ख़्वाहिशों के चाह निर्धारित स्थिति में भी स्वप्न का आना स्कूल जाते हुए अपने दोस्तों के साथ, स्कूल के टीचर का, पर अफसोस है वह परिस्थितिवश कठोर महत्त्वाकांक्षाओं की बलि चढ़ क्षत-विक्षत होता है।

मनुष्य का जीवन भर एक बनावटी दायरे में कैद रहना उसकी सहज-सरल छवि से दूर रखता है। केवल बचपन ही ऐसा होता है जो मासूम, निस्वार्थ होता है। अगर वह कृत्रिम हो जाए तो अंतर की छटपटाहट से असहायता का जन्म होता है, जो सपनों को चूर-चूर कर देता है। कहानी अंत तक पाठक को बाँधे रखती है हमारे चारों ओर ऐसे कई जीवंत उदाहरण देखने को मिलते हैं। बचपन की शरारतें, साथ बैठना, खेलना, अपनत्व के झगड़े, पतंग उड़ाना, काटा है पर खुश होना। आनंदित उत्साह बचपन की शरारतों की छाप जीवन पर्यन्त ज़ेहन में यादों के रूप में बनी रहती है जो कठोरता से लड़ने की ताकत देती है।

अभिभावकों की आकांक्षाएँ नन्हें बच्चों की मासूमियत को बलि चढ़ा देती हैं। अपने मरते बचपन की असमय परिपक्वता पूर्ण विकास में बाधक तो है ही, नन्हें पौधे को पेड़ बनने में जितना समय लगता है उसी तरह बच्चों को उचित वातावरण दिया जाए। एक संवेदनशील कहानी के लिये लेखिका को बधाई !!

–भानुश्री चन्द्रेश चौरे

000

सच्चाई को दिखाती कहानी

हमेशा टीवी पर बच्चों के रियलिटी शो देखते हुए, मन मे कई प्रश्न उठते हैं। प्रस्तुति को लेकर एक दूसरे में ज़बरदस्त प्रतिस्पर्धा होती है, वह कैसे निभाई जाती होगी? कई बार हम दाँतो तले उँगली दबा लेते हैं, और उस परफेक्शन के लिए उनका बचपन ज़रूर बलि चढ़ता होगा। यह कहानी ऐसे प्रश्नों का उत्तर देती नज़र आती है। एक सफलता के पश्चात् दूसरी फिर तीसरी, कोई सीमा नहीं जिसकी, और जिस चरित्र को जिया, वो कुछ समय बाद किसको याद रहता है?

अभिभावकों की महत्त्वाकांक्षा का शिकार नन्हा बच्चा, दोस्त और खेल कूद को तरस रहा है। चंद समय की करतल ध्वनि और इनाम राशि माँ- पिता को लालच के अंधे कूप में धकेल रही है, जहाँ वे छोटी बहन के लिए भी वही सपना देख रहे हैं। बच्चे का रोना पाठकों को द्रवित कर गया। मेरा यह अभिप्राय कतई नहीं कि बालकों की प्रतिभा को मंच न मिले किंतु एक सीमा तक।

अभिनय, शिक्षा और खेल में स्वस्थ तालमेल आवश्यक है। टैब के खेल मित्रों का स्थान कभी नहीं ले सकते। पैसे से सब कुछ नहीं खरीदा जा सकता है।

सच्चाई को दिखाती यह कहानी मन को भीतर तक झकझोर कर रख देती है। कहानी से संबंधित सभी पहलू बढ़ाई और प्रशंसा के पात्र हैं।

–साधना शर्मा, पुणे

000

सुंदर सटीक संदेश

कहानी 'नन्हें दरख़्त' में लेखिका, ज्योत्स्ना 'कपिल' ने, बाल मन का बहुत सुंदर चित्रण किया है। अत्यधिक महत्त्वाकांक्षी माता-पिता बच्चों का कैसे बचपन छीन कर, अभिनय की दुनिया में ढकेल रहे है। उनके बाल सुलभ मन को किस प्रकार से कुंठित कर रहे है, यह अपनी लेखनी द्वारा मर्म को छूती अच्छी कहानी प्रेषित की है।

बच्चे सदैव चाहते अपने सहपाठी के साथ स्वच्छंद खेलना-कूदना, पतंग उड़ाना आदि, लेकिन, माता-पिता अपने लालच और मान प्रतिष्ठा के कारण अपने बच्चे के मानस को भी नहीं समझ पा रहे है। बाल मन पर एक गहरी चोट दर्शाती कहानी मन को अन्दर तक झकझोर गई और एक प्रश्न चिह्न खड़ा कर दिया है कि, बच्चे की सोच है कि मैं चुपके से गायब हो कर, खेलने चला जाऊँ तो मम्मी-पापा को कैसा लगेगा? बच्चे का मन इतना आहत है कि वह अपनी बहन के मासूम बचपन का बचाव कर रहा है, बहन को अभिनय की उस दुनिया से दूर रखना चाहता है।

बाल सुलभ मन कैसे बंधन में जकड़ कर अपना बालपन खो रहा है। सुंदर सटीक संदेश देती कहानी। बधाई लेखिका ज्योत्स्ना कपिल जी!

-सुषमा शर्मा, इन्दौर

000

अच्छी व मज़बूत कहानी

प्रस्तुत कहानी एक अच्छी व मज़बूत कहानी है जो बाल समस्या को समाज के सामने रखती है। यह उन बच्चों की समस्या को, मजबूरी को उजागर करती है जो अपने माता-पिता की अनुचित अभिलाषाओं को पूरा करने में अपना बचपन खो रहे हैं।

समय से पहले बड़े होते ये बच्चे पढ़ाई, खेलकूद, दोस्त से दूर होते जा रहे है। पेड़ की तरह ये केवल दे रहे हैं। नन्हें दरख़्त माता-पिता का पालन-पोषण कर रहे हैं ।

सुगम भाषा में लेखिका ने आज के समय की ज्वलंत समस्या को दर्शाया है। माँ बच्चे की भावनाओं को समझ रही है, पति से कहती भी है पर कोई फायदा नहीं होता । अंत में दस वर्ष का बच्चा एकाएक बड़ा हो जाता है, अपनी बहन के बचपन को बचाने के लिए वह पुन: काम (अभिनय) करने को तैयार हो जाता है। वास्तव में कहानी बहुत उत्तम है

-संध्या पारे

000

सुंदर कहानी

बहुत ही सुंदर कहानी है। आज के समय की एक मुख्य समस्या को दर्शाती हुई।

ये बिल्कुल सही है कि आज बच्चों पर बहुत दबाव होता है, अभिभावक चाहते हैं कि उनका बच्चा आल राउंडर बन जाए। अथर्व के मम्मी-पापा की तरह कई अभिभावक की मानसिकता बन चुकी है और उनके सपने पूरे करने की ख़ातिर बच्चों का बचपन खोता जा रहा है।

अथर्व के पापा का कहना कि 'मेरी नौकरी भी चली गई है, अथर्व भी काम छोड़ देगा तो हमारा घर कैसे चलेगा?' पिता का स्वार्थ दर्शाता है। कहानी बच्चे का सपने में अपने बचपन को जीना और अंत में अपनी बहन को उसका बचपन जीने के लिए लिया निर्णय और एकदम से बच्चे से बड़ा हो जाना दिल में फांस बन कर चुभ जाता है।

-अर्चना गार्गव शर्मा, भोपाल

000

अधूरे सपनों की कहानी

कहानी आज के चकाचौंध मीडिया, टीवी, फिल्में आदि के युग में माता-पिता अपने अधूरे सपने जो वे पूरे करने में असमर्थ रहे उन्हें अपने बच्चों को पूरा करने, उनकी इच्छा जाने बिना थोप देते हैं, जिससे उनका बचपन छिन जाता है। कहानी में बालक कैसे अपने स्कूल, दोस्तों के साथ खेलना याद करता है जो वह सपने में पूरा करता है।

बच्चों को महँगे खिलौने ऐश आराम उतना नहीं लुभाता जितना बचपन को अपने दोस्तों के साथ खेलना-कूदना भाता है, लेखिका यही कहती है।

कहानी में वह बालक जब अपनी छोटी बहन के बारे में माता-पिता को बात करते सुनता है कि उसे भी यही सब करना होगा तो वह अचानक से बड़ा हो जाता है। कम उम्र में यह काम करने से कैसे लगता है, बचपना छिन जाता है, अपनी बहन को उससे बचाने के लिए अपना इरादा बदल देता है और काम करने, एक्टिंग करने का मन बना लेता है।

'नन्हें दरख़्त' कहानी नाम ही दर्शाती है कि पौधा कई मौसम झेलने के बाद ही एक बड़े दरख़्त का दर्जा पाता है, पर यह नन्हा बालक अपनी छोटी बहन और माता-पिता के लिए एकाएक दरख़्त बन गया, जिसकी छाया में वे फल खाएँगे।

-विद्या बिल्लोरे

000

कहानी हृदय को छू गई

लेखिका ज्योत्स्ना की कहानी हृदय को छू गई, उन्होंने इन आधुनिक बाल मज़दूरों की मजबूरी पर प्रकाश डाला। अभी तक हमारे मन में यह धारणा थी, की अनपढ़, और ग़रीबी से बेहाल बच्चे ही इस तरह से मज़दूरी करते है, परंतु लेखिका को सादर आभार जिन्होंने आधुनिक पढ़े-लिखे, उच्चकांक्षी, स्वार्थी माता-पिता, जो अपने स्वार्थ के लिए 6-7 साल के छोटे बच्चे का शोषण करते हैं। उसे पैसे कमाने की मशीन की तरह उपयोग करते हैं।

बच्चे का बचपन छीन कर, उसके कंधे पर पूरे परिवार का बोझ डाल देते हैं। हम लोग बरसों से फिल्मों या टीवी के माध्यम से अनेकों बाल कलाकारों को देखते आए हैं; लेकिन उनकी मजबूरी अब समझ में आई। अपनी प्रसिद्धि और धनवान बनने की चाहत में, लोग कुछ भी करने को तैयार हैं। बहुत दुखद लगा, छोटा सा बच्चा जो स्वयं एक कोपल है, अपनी बहन को बचाने के लिये एक विशाल वट वृक्ष बन जाता है, अपनी बहन को अपनी छाया देने की कोशिश करता है।

-उमा चौरे, इंदौर

000

अनेक चित्र मन में उभरने लगे

ज्योत्स्ना जी की कहानी 'नन्हें दरख़्त' पढ़ते-पढ़ते अनेक चित्र मन में उभरने लगे। ज़्यादा दूध पाने के लिए पशुपालकों को दुधारू पशुओं को इंजेक्शन लगाते, फलदार वृक्षों को हाइब्रिड, बोनसाई बनाने के लिए छोटे गमलों में रख उनकी जड़ों एवं फुनगियों को कतरते, विशाल धरा पर विचरते मनुष्यों को हाई सोसाइटी के नाम पर माचिस की डब्बियों सी गगनचुम्बी मल्टीज़ में 'कोंड' 'हाई ब्रो' होने का दम्भ छलकाते या छोटे पाँव को खूबसूरती का पर्याय मानने के चलते नन्हीं चीनी बच्चियों के पाँवों को लोहे के जूतों में जकड़ते, या दो बीघा ज़मीन के बलराज साहनी को रिक्शा खींचते, मदरइंडिया की नरगिस को हल खींचते ऐसे सैकड़ों चित्र उभरते हुए किसी न किसी कोण या अर्थ में कहानी के नायक अथर्व की जिगसॉ पज़ल से जुड़ कर एक ही चित्र मुक्कमल कर रहे थे -- स्वार्थजनित शोषण।

प्रतिभा खोज या टेलेंट हंट के नाम पर टीवी ने सचमुच बच्चों का हंटर बन शिकार करना शुरू कर दिया है। अथर्व इस मायने में शायद लक्षित शिकार बन गया जिसे प्रतियोगिता जीतने के बाद एक के बाद एक अवसर मिलते चले गए। वरना ढेरों चैनल्स की सैकड़ों प्रतियोगिताओं के विजेता या तो गूगल सर्च का मात्र एक पेज हैं या गुमनामी झेलते डूबते तारे।

भौतिकता की स्वार्थ जनित चाह ने बाल सुलभता को अचानक एडल्ट के खांचे में मढ़कर एक बच्चे की उद्वेलित मानसिकता को मार्मिक बड़प्पन प्रदान कर दिया। यहीं ज्योत्स्ना जी की कलम परम को छू गई।

इस भौतिकता, स्वार्थ के घनघोर अँधेरे ने सब कुछ लील लिया-पिता का सम्बल, माँ की ममता और एक सुरक्षित बचपन। एक मात्र सुखद पल पाठक को सिर्फ वहीं मिला जहाँ आस का एक नन्हा दीप बोनसाई बनते अथर्व ने अपनी नन्ही बहन के लिए जला दिया।

एक खूबसूरत समसामयिक, आज की पीढ़ी के माता-पिताओं की मानसिकता उजागर करती, मनोवैज्ञानिक कहानी लिखने हेतु ज्योत्स्ना कपिल जी को साधुवाद! तथा संपादक को आभार कहानी को पाठकों तक पहुँचाने के लिए।

-राजश्री शर्मा

000

ज्वलन्त समस्या

लेखिका ज्योत्स्ना 'कपिल' जी ने बहुत ही सहज ढंग से अपनी कहानी द्वारा येन केन प्रकारेण श्रेष्ठतम पाने की मानवीय प्रवृत्ति को दर्शाया है।

कहानी के मुख्य पात्र 'अथर्व' के अभिभावक स्वयं ही उसका बचपन,उसके दोस्त उसकी बाल सुलभ कामनाओं को छीनकर,उसे अभिनव की अत्यंत आकर्षण पैदा करनेवाली अति महत्त्वाकांक्षी दुनिया में धकेल देते हैं। वे अपनी ग़लतियों को एक 'गिफ्टेड चाइल्ड' का लबादा पहनाकर,'नाम और पैसा अथर्व के हाथ की रेखाओं में है' बोलकर छिपाते हैं और स्वयं को सांत्वना देते हैं। वे स्वार्थी बन अपनी अपूर्ण इच्छाओं का रसपान करते हैं। कहीं न कहीं उनका मन भी उन्हें इस बात के लिए कचोटता ही है। किंतु आधुनिक प्रतिस्पर्धा की अंधी दौड़ के कारण बेटे के बाद बेटी को भी दाँव पर लगाने को तैयार रहती है।

यह यथार्थ नन्हें अथर्व को अंतरतल तक झकझोर देता है,और वह एक ही रात के अंतराल में अपनी बहन के बचपन ,जिससे वह वंचित रहा, उसको बचाने के लिए एक विशालकाय दरख़्त की भाँति खड़ा हो जाता है।

ज्योत्सना कपिल जी का 'नन्हें दरख़्त' के माध्यम से हमारे वर्तमान समय में समाज की एक बहुत ही ज्वलन्त समस्या पर प्रकाश डालने हेतु बहुत-बहुत आभार एवं कहानी को एक सशक्त माध्यम बनाकर हर पाठक को सोचने पर मजबूर कर देने हेतु बहुत-बहुत बधाई।

-अनुराधा सुनील पारे

जबलपुर (मध्य प्रदेश)

000

लेखकों से अनुरोध

'विभोम-स्वर' में सभी लेखकों का स्वागत है। अपनी मौलिक, अप्रकाशित रचनाएँ ही भेजें। पत्रिका में राजनैतिक तथा विवादास्पद विषयों पर रचनाएँ प्रकाशित नहीं की जाएँगी। रचना को स्वीकार या अस्वीकार करने का पूर्ण अधिकार संपादक मंडल का होगा। प्रकाशित रचनाओं पर कोई पारिश्रमिक नहीं दिया जाएगा। बहुत अधिक लम्बे पत्र तथा लम्बे आलेख न भेजें। अपनी सामग्री यूनिकोड अथवा चाणक्य फॉण्ट में वर्डपेड की टैक्स्ट फ़ाइल अथवा वर्ड की फ़ाइल के द्वारा ही भेजें। पीडीएँफ़ या स्कैन की हुई जेपीजी फ़ाइल में नहीं भेजें, इस प्रकार की रचनाएँ विचार में नहीं ली जाएँगी। रचनाओं की साफ़्ट कॉपी ही ईमेल के द्वारा भेजें, डाक द्वारा हार्ड कॉपी नहीं भेजें, उसे प्रकाशित करना अथवा आपको वापस कर पाना हमारे लिए संभव नहीं होगा। रचना के साथ पूरा नाम व पता, ईमेल आदि लिखा होना ज़रूरी है। आलेख, कहानी के साथ अपना चित्र तथा संक्षिप्त सा परिचय भी भेजें। पुस्तक समीक्षाओं का स्वागत है, समीक्षाएँ अधिक लम्बी नहीं हों, सारगर्भित हों। समीक्षाओं के साथ पुस्तक के कवर का चित्र, लेखक का चित्र तथा प्रकाशन संबंधी आवश्यक जानकारियाँ भी अवश्य भेजें। एक अंक में आपकी किसी भी विधा की रचना (समीक्षा के अलावा) यदि प्रकाशित हो चुकी है तो अगली रचना के लिए तीन अंकों की प्रतीक्षा करें। एक बार में अपनी एक ही विधा की रचना भेजें, एक साथ कई विधाओं में अपनी रचनाएँ न भेजें। रचनाएँ भेजने से पूर्व एक बार पत्रिका में प्रकाशित हो रही रचनाओं को अवश्य देखें। रचना भेजने के बाद स्वीकृति हेतु प्रतीक्षा करें, बार-बार ईमेल नहीं करें, चूँकि पत्रिका त्रैमासिक है अत: कई बार किसी रचना को स्वीकृत करने तथा उसे किसी अंक में प्रकाशित करने के बीच कुछ अंतराल हो सकता है।

धन्यवाद

संपादक

vibhom.swar@gmail.com

छोटी-छोटी ख़ुशियाँ

उषा प्रियम्वदा

उषा प्रियम्वदा
1219 शोर वुड बुलेवार्ड,
मैडिसन , विस्कॉन्सिन, 53705, यू एस ए
मोबाइल-608-238-3681
ईमेल- unilsson@facstaff.wisc.edu

मेरे सहयोगी, डेविड भारत की रिसर्च यात्रा से लौटे हैं, विभाग में पहले संस्कृत पढ़ाते थे, और अब एक जर्मन महिला की नियुक्ति के बाद भारतीय धर्म और दर्शन पढ़ाने लगे हैं। हम दोनों विभाग के किसी उत्सव में पास-पास बैठे हैं- ज़ाहिर है डेविड की स्वीडिश पत्नी को बनारस प्रवास में बहुत कष्ट झेलने पड़े।

डेविड ने पूछा-तुम इस चक्रव्यूह से कैसे निकल गईं?

मैं समझी नहीं "क्या मतलब? कौन सा चक्रव्यूह-?"

"यही, परम्परागत जीवन, विवाह, बच्चे, गृहस्थी-, जितनी उच्च शिक्षित महिलाओं से मिले, अधिकतर ने विवाह के बाद ही आगे पढ़ा, पति और परिवार के सहयोग से-मगर तुम अकेली, कैसे बिन ब्याही रह गई? और अपने बलबूते पर अमेरिका चली आई- "

मैं मुस्कराती रही- फिर कहा "मेरे भाई गाँधीवादी हैं, वह स्त्रियों की उच्च शिक्षा और स्वतंत्रता में विश्वास करते हैं- "

उनके लिए यह काफ़ी था-

माँ चाहती थी कि मेरा ब्याह किसी अफ़सर से हो, जैसे उनके भाई और बहन की पुत्रियों का हुआ था। और अफ़सर का मतलब था, दहेज़, यानी भरी हुई थैली, परिवार में जो विवाह हुए थे, डिप्टी कलेक्टर, इंजीनियर और प्रशासनिक सेवा वाले दामादों को मुँहमाँगी थैली पकड़ाई गई थी। मगर हमारे समाज में दूर-दूर तक यह बात फैल गई थी कि शिब्बनलाल हैं पक्के सुधारवादी, गाँधी जी के शिष्य और साथी और वह दहेज़ देने के एकदम विरुद्ध है- इसलिए....बहनों के विवाह में दहेज़ में एक पैसा भी नहीं देंगे- मगर यह कहने का साहस था किस बाप में? लड़की गोरी नहीं है, बहुत दुबली और लम्बी है, चश्मा लगाती है-कह कर बात टाल दी जाती थी- माँ उदास हो जाती थीं, अपने से रो लेती थीं, और मैं भी कि मुझे लड़कपन से ही शादी ब्याह में कोई रुचि नहीं थी- अपनी कल्पनाओं और स्वप्नों के संसार में खोई रहती थी- बहुत वर्षों बाद मेरी भेंट एक ऐसे सज्जन से हुई, जो प्रशासनिक सेवा में नियुक्त थे और जिनके पिता ने, मुझे "गोरी नहीं है,"कहकर रिजेक्ट कर दिया था। भेंट एक उत्सव में उनकी पत्नी से हुई थी, वह मेरा लेखिका रूप जानकर बहुत प्रसन्न हुईं- उन्होंने तब तक प्रकाशित मेरी सब पुस्तकें पढ़ी थीं-उन्होंने हमें डिनर पर आमंत्रित कर दिया, परन्तु प्रशान्त अस्वस्थ थे, इसलिए हमें वह अस्वीकार करना पड़ा, पर वह अगले दिन मुझे साड़ी शॉपिंग पर ले जाएगी, यह तय करके हमने विदा ली।

अगले दिन जब मैं उनके बंगले पर पहुँची, तब वह आँगन में चारपाई पर बैठी थीं- गोरी तो थीं ही, पर यह विवाह केवल उनके गोरेपन के कारण सम्पन्न हुआ होगा, इसमें मुझे संदेह था। पान की लाल पीक होठों से निकलकर ठोढ़ी पर फैल गई थी- हम बाज़ार में घूमें फिरे, ख़रीदारी भी की, उन्होंने बताया कि उनके देवर का विवाह होने वाला है, वह इनकम टैक्स अफ़सर था- लड़की एम.ए. है, उन्होंने कहा और वह लोग मोटरगाड़ी के साथ-साथ कैश भी दे रहे हैं-

"तो आप भी तो लाई होगी-" मैंने हलके से ठोह ली।

"हाँ, गाड़ी भी, और कैश भी," उन्होंने बड़ी सहजता से कहा

***

अमेरिका में पहली बार, एक कॉन्फ्रेंस के बाद की पार्टी में मंगोलिया से आए प्रोफ़ेसर श्रेष्ठा ने मुझसे शुद्ध हिन्दी में कहा-"आप बहुत सुन्दर हैं-"

तब मेरी समझ में नहीं आया कि मैं क्या कहूँ-"मुस्करा दी- और चुप रह गई-"

***

मुझे गेस्ट हाउस में छोड़कर और प्रशान्त की मिजाज़ पुरसी करने के बाद जब वे दोनों चले गए तो मैंने प्रशान्त से कहा, "इनसे मेरे ब्याह की बात चली थी-"

"फिर हुआ क्यों नहीं?"

दहेज़ देना दादा शिब्बन लाल के सिद्धांतों के विरुद्ध था-"

"आज यह मेरी जगह होते-" प्रशान्त ने कहा।

"नहीं, यह आपकी जगह नहीं होते, क्योंकि तब, मेरे लिए पीएँच.डी या फुलब्राइट होती, हाँ मैं अवश्य पलंग पर बैठकर पान खाती रहती-और ढोढ़ी पर पीक बहती रहती।"

हम दोनों हँसने लगे।

***

इस मोड़ पर कभी-कभी सोचती हूँ कि यदि अमेरिका आने का विकल्प न चुना होता तो जीवन क्या होता।

शायद इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के विमेन्स कॉलेज में पढ़ाते-पढ़ाते, अन्य चिर कुमारियाँ, शैल जी, प्रीति जी, शान्ति जी, मिस हर्लेकर की तरह जीवन पढ़ने-लिखने में बीत जाता, लेखन चलता रहता अगर उसका मोड़ कुछ अलग ही होता। बैंक रोड के उस घर में रहती- और तब कदाचित् यूनिवर्सिटी के कर्णधारों को वरिष्ठ प्रोफ़ेसर यदुपति सहाय की विधवा पत्नी को घर से निष्कासित करने का, उनकी अनुपस्थिति में घर के ताले तोड़कर सामान इधर-उधर फिकवाने का अवसर न मिलता।

और यदि विवाह हो जाता, तो अपनी समवयस्क सहेलियों की तरह बहू, बेटी की सेवा कर सुख उठाती रहती।

पर वह राह नहीं चुनी, चुना निरंतर संघर्ष का जीवन पर जिसने मन प्राणों को निरंतर समृद्ध किया, संघर्ष ने ही जीवन को काटा और छाँटा। सब कुछ जिया मैंने, अनन्त, अथाह प्रेम और अपनों से विछोह का घोर दुख। जुड़ना, टूटना फिर अपने कण-कण हुए जीवन और अस्तित्व को धीरे-धीरे एकत्र करके जोड़ना।

जुड़ना, टूटना-बिखरना, फिर अपने को उठाकर, धूल झाड़कर, साहस और संयम से जीवन को एक बार जीना।

हाँ, पलंग पर बैठकर चाय नाश्ता तो मिलता, घर-परिवार, मित्र, परिजन, सबका साथ-सबका प्यार और आदर।

कभी हम अपनी राह चुनते हैं, कभी राह अपने आप, सामने पसर कर आह्वान करती है-बस उस पर चल पड़ने भर का प्रयत्न करना पड़ता है- सड़क की समाप्ति पर क्या होगा, यह चलते-चलते हमें क्या मालूम, बस अनुभव को झोली में समेट कर रखते जाना, तलुवों में कंकड़, पत्थरों की चुभन को सहते जाना- और मधुर अनुभवों को मन, प्राणों में सहेज लेना- यही जीवन तो मैंने चुना-या इस जीवन ने मुझे?

***

अपने में संपृक्त रहना, किसी से ईर्ष्या न करना, न जीवन से कोई अपेक्षा करना, मालूम नहीं जन्मगत प्रवृत्ति है या बचपन से अपनी सारी इच्छाओं का गला घोंट देने के कारण। शायद परिस्थितियों के कारण उस कम उम्र में भी मेरे मन में इतना विराग आ गया था कि किसी की सुख-समृद्धि से ईर्ष्या नहीं होती, कानपुर के प्रसिद्ध उद्योगपति सिंहानिया परिवार की पुष्पा मेरी सहेली थी, उसका विवाह तेरह-चौदह साल में हो गया था और वह जब स्कूल आती तो उसका शरीर हीरों से दीप्त रहता, कानों में बड़े-बड़े सॉलिटेयर, नाक में हीरे की लौंग, हाथों में अंगूठियाँ और दस चूड़ियाँ हीरे की, यह उसका रोज़ का परिधान था-और सहेलियाँ अक्सर उससे चूड़ियाँ माँगकर पहन लेतीं और ख़ुश होतीं- शायद इसी से उनकी इच्छापूर्ति हो जाती, मगर मेरे मन में कभी भी यह इच्छा नहीं हुई कि मैं भी हीरे की चूड़ियाँ पहनूँ- शायद यही कारण है कि मित्रों के यश सम्मान से मुझे कभी ईर्ष्या नहीं होती बल्कि उनके लिए प्रसन्नता ही होती है।

कई वर्षों पहले, जब निर्मल वर्मा को मूर्ति पुरस्कार मिला था मैं भारत में थी, पुरस्कार दलाई लामा के हाथों प्रदान किया गया, गगन उन दिनों सबके पैर छूने के मूड में थीं, जब उन्होंने लपक कर दलाई लामा के पैर छुए तो वह अचकचाकर पीछे हट गए। हम सबने इस बात पर गगन को काफ़ी खिजाया। निर्मल ने अपने थोड़े से मित्रों को घर पर आमंत्रित किया, तब वह अपने पूसा रोड के पास वाले घर में रहते थे और वह सड़क इतनी पतली थी कि राजकमल की प्रकाशक शीला संधू की मर्सीडीज़ जगह-जगह फँस जाती थी-मैं उन्हीं के साथ गई थी- हम सब उस मूर्ति को देखकर सराह रहे थे-मैंने परिहास के मूड में निर्मल से कहा, "मुझे तो कोई पुरस्कार मिलने से रहा- आओ तुम्हारा अभिवादन कर लूँ-प्रॉक्सी ही सही", तब तक माँ की मृत्यु के बाद मैंने भारतीय नागरिकता त्याग दी थी जो पुरस्कारों के लिए अनिवार्य थी –फिर साहित्य अकादमी के एक वरिष्ठ व्यक्ति मुझसे कह चुके थे-" तुम्हारे पास तो डालर हैं।"

मेरे पुरुष मित्रों में निर्मल वर्मा और गोविन्द मिश्र ही थे जो बहुत स्नेह से, जब मिलते थे तो मुझे गले मिलते थे- गगन की दृष्टि के नीचे, निर्मल ने अपनी लज्जालु मुद्रा से कंधे से लगाया-

हम सब हँस रहे थे- कुँवर नारायण भी

हँसे, "मुझे अपनी बारी का इंतज़ार रहेगा- "

वह एक बहुत सुखद और सुन्दर शाम थी, मैं गुन रही थी कि मेरे मन में निर्मल के प्रति ईर्ष्या का लेशमात्र भी नहीं था- वैसा ही हर्ष था जैसा निर्मला जैन को व्यास या शलाका सम्मान मिलने के अवसर पर हुआ था। या फिर गोविन्द को साहित्य अकादमी का सम्मान मिलने पर हुआ- जब हम उस उत्सव में मिले तो गोविन्द ने मुझे वैसे ही निश्छल और निष्कपट रूप से भेंटा जैसे निर्मल ने अपने मूर्ति पुरस्कार के अवसर पर किया था।

प्रियम्वदा नाम लेते हुए, मैंने माँ से पूछा नहीं, उन्होंने भी कुछ नहीं कहा, उषा के साथ माँ का नाम जोड़कर अच्छा लगा। कहानी भेज दी नए नाम से, छप गई, चालीस रुपये आ गए, जिस दिन यूथ फेस्टिवेल में मैसूर जा रही थी, उसी दिन 'कल्पना' से।

मैसूर में हम 'कावेरी' गए थे, मुझे हाथी दाँत और चंदन की एक मूर्ति भा गई, उठाकर देखा, दाम था ठीक चालीस रुपये-मुझे लगा कि जैसे सरस्वती जी मेरे पास आने की इच्छा व्यक्त कर रही हैं, 'कल्पना' से आए चालीस रुपए पास थे, मैंने तुरन्त वह मूर्ति ले ली, और तब से, अब तक वह बराबर मेरी मेज़ पर मेरे साथ है, चन्दन की सुगन्ध कब की उड़ गई है, मगर वह हैं अभी भी मेरी आराध्या।

जब मैं भारत आती और दादा के घर फ़ीरोज़शाह रोड में माँ के छोटे से कमरे में रहती, कितनी तसल्ली, कितनी शांति मिलती थी, मेरे अमेरिकन जीवन में क्या संघर्ष और क्या उठापटक चल रही है, इसके बारे में मैंने कभी उनसे बात नहीं की-माँ को छोटी-छोटी ख़ुशियाँ देकर मुझे अपूर्व संतोष मिलता था।

***

पिता यदि शाहख़र्च या लम्बे परिवार का पालन-पोषण न करके व्यवहारिक होते तो अपने चाचाओं की तरह घर ख़रीद लेते और उसके किराए से परिवार की दाल-रोटी तो चलती ही रहती-पर उन्हें क्या मालूम था कि चालीस से पहले मृत्यु उन्हें दबोच लेगी-

माँ उनकी बात कम करती थीं, वह दुख उन्होंने कालकूट की तरह घूँट लिया था, कभी- कभी कहती, "मैं तुम्हारे पापा से कहती थी कि कुछ बचाइये, सामने बेटियाँ हैं," तो वह हँसकर कहते थे "जब तक उषा बड़ी होगी, दहेज़ प्रथा समाप्त हो चुकी होगी, तुम देखना।"

मैं शुक्रगुज़ार हूँ, उन सब अफ़सर बेटों के पिताओं की, जिन्होंने मुझे, "लड़की गोरी नहीं, बहुत लम्बी है, चश्मा लगाती है," कहकर मुझे रिजेक्ट कर दिया था। यदि परिवार ने मुझे उच्च शिक्षा न दी होती तो मुझे कभी, उस समय, फुलब्राइट न मिलती। अमेरिका में रहकर संघर्ष करके मेरा जीवन कितना समृद्ध हुआ, मुझे कितनी अंतर्दृष्टि दी और कँकरीली राह पर चलने से पैर क्षत विक्षत तो हुए पर यात्रा सुखद और दुरूह दोनों ही रही। काले साहब ने सही कहा था, मेरा जीवन ऐसे ही बीतेगा जैसे सरौते के बीच सुपारी।

मगर निरंतर द्वंद्व ही हमें अंतर्दृष्टि देता है, साहस और ऊर्जा- करुणा और संवेदना। कठिनाइयाँ, अगर हम चाहें, तो हमें समृद्ध बना सकती हैं, समद्धृता केवल घर, गाड़ी, बैंक अकाउंट की ही नहीं होती, अनुभूतियाँ, सहानुभूति और दूसरे की पीर समझने की भी होती है। पर उसके लिए अंतर्दृष्टि होनी चाहिए, जैसे अमेरिकन लेखक और फिलासफ़र थोरो ने कहा है, एक लेखिका को निरन्तर अपनी भावनाओं का वैसे ही निरीक्षण करना चाहिए जैसा एक खगोल विज्ञानी सितारों की गति पर दृष्टि रखता है।

निरन्तर एक गहरे स्तर पर जीना हमें आस-पास की दुनिया से अलग कर देता है, और उसी से बूँद-बूँद एकत्र होकर पृष्ठ पर उतरती है।

***

हमारे जीवन की गुदड़ी में कभी-कभार कोई रेशमी या रंग बिरंगा पेबंद आ जाता है जिससे पूरा जीवन, कम से कम उस समय, आलोकित हो उठता है।

वैसे तो मैंने हमेशा प्रयत्न किया कि मैं माँ को ख़ुशी दूँ, अपने समुद्री जहाज़ पर बैठकर मुदितमन से अमेरिका प्रस्थान के समय का दृश्य मुझे कभी नहीं भूला जब हमारा जहाज़ "रोमा" बम्बई तट में भूमि तल से अलग होता हुआ प्रस्थान कर रहा था और माँ तट पर खड़ी- खड़ी अपने अविरल आँसुओं को पोंछ रही थीं।

***

तब मैंने हाई स्कूल पास किया था, माँ मुझे डॉक्टर बनता देखना चाहती थी- मेरी प्रिय मित्र चुनमुन भी डॉक्टरी पढ़ रही थी पर लखनऊ जाकर रहना और मेडिकल की पढ़ाई करने का हमारे पास कोई साधन नहीं था- बल्कि वह समय अत्यंत आर्थिक तंगी का था- बालिका विद्यालय अब तक कॉलेज बन गया था, फ़र्स्ट आने के कारण मेरी फ़ीस माफ़ थी, पर ठेले की जगह अब स्कूल बस चलने लगी थी, बस का किराया और अन्य छोटे मोटे ख़र्चे तो थे ही, उसी में आ पड़ा, मामा ब्रजभूषण हजेला की सबसे बड़ी पुत्री प्रभा का विवाह- उस परिवार में पहला विवाह था और बहुत धूमधाम से होना था- माँ का जाना अनिवार्य था- पर एक भीषण समस्या जो मुँह फाड़े खड़ी थी, वह पास में विवाह में जाने के लिए एक धेला भी न था। इससे पहले मायके में हुए हर विवाह में माँ और पापा, कानपुर में बने प्रसिद्ध चमड़े के सूटकेस उपहार में देते थे-माँ खाली हाथ जाएँ तो कैसे- पर सूटकेस ख़रीदा कहाँ से जाए, संबंधियों से या अपनी धनिक सहेलियों से अब तक हमने एक पैसा तक नहीं माँगा था- माँगना या याचना हमारी प्रवृत्ति के बिलकुल विरुद्ध था।

मैं माँ को चिंतित देखती थी, माँ अपना बक्सा और पोटलियाँ टटोलती रहती थीं, संचित चाँदी के रुपये और हाथ से बनाए कसीदाकारी के पारसी कढ़ाई के फ़ीते-जिन्हें वह चुपचाप घर की पुरानी महराजिन के हाथों बिकवाया करती थीं, सब समाप्त हो चुके थे।

माँ अकेले में लम्बी-लम्बी साँसें लेती और स्वगत भाषण करतीं- "क्या करें? किससे कहें? किससे माँगे?"

"किससे माँगोगी-" मैंने कहा- "ज़रूरत नहीं है मत जाना ब्याह में- "

"क्या करें- तुम्हारे पापा- मैं चमड़े का सूटकेस देना चाहती हूँ- ब्याह में जाना चाहती हूँ- "

कितनी छोटी-छोटी ख़्वाहिशें-मेरे पास

कोई उत्तर नहीं था, विवाह के दिन पास सरकते आ रहे थे- सभी संबंधियों में उत्साह था, मामा ब्रजभूषण हजेला सम्पन्न और समृद्ध थे, सबसे बड़ी बेटी के लिए डिप्टी कलेक्टर वर ढूँढ़ा था, दहेज़ में काफ़ी कैश और मोटर गाड़ी दी जा रही थी- वर और वधू, दोनों में से ही किसी ने एक दूसरे को नहीं देखा था, पर प्रभा जिज्जी एकदम गोरी थीं- उन्हें देखने आने वाली ससुराल की स्त्रियाँ सन्तुष्ट होकर गई थीं।

माँ का पूरा परिवार इकट्ठा होने वाला था, पूरी टीम टाम, उसमें खाली हाथ- माँ का चेहरा उतर गया था- आँखें उबड़बारे रहने लगीं- उनके इस दुख और संताप की एक मात्र भागीदार केवल मैं थी, यदि हम गए तो हमारे दैत्य का सबको पता चलने वाला था, जिसे माँ ने बरसों से ढँक कर रखा था- अपना सिर ऊँचा करके।

***

शायद वह 'सिविक्स' का पीरियड था- मिस घोष पढ़ा रही थीं और हम तल्लीनता से सुनते हुए नोट्स ले रहे थे।

क्लास में प्रिंसिपल, श्रीमती बोस की चपरासिन प्रकट हुई। मुझे दफ्तर में बुलाया गया था।

मिस घोष मुझे देखने लगीं- लेक्चर रुक गया, सारा क्लास एक दम को निस्तब्ध रह गया, मेरा हृदय ज़ोर से धड़कने लगा- प्रिंसिपल के ऑफ़िस में बुलाहट- मैंने ऐसा क्या कर दिया?

मैंने उन्हें नमस्कार किया और चुपचाप खड़ी रहीं- अब तक मिसेज़ बोस वृद्ध हो चली थीं- बंगाली विधवा-वैधव्य के चिह्न शरीर पर, छोटे-छोटे घुँघराले सफ़ेद बाल- निरामरण-पतले किनारे की ताँत की सूती धोती। यह मिसेज़ बोस का ही स्वप्न था जिससे हमारे और अन्य सैकड़ों परिवारों की लड़कियों को शिक्षा मिल रही थी- बालिका विद्यालय का स्वप्न साकार करने के लिए उन्हें छ: लड़कियों की आवश्यकता थी और उन्होंने घर-घर जाकर परिवार की लड़कियों का कम अवस्था में विवाह न करके आगे पढ़ाने के लिए मनाया था। वह हमारे यहाँ भी आई थीं, और बुआ सुशीला को परिवार और बिरादरी की पहली दसवाँ पास लड़की होने का श्रेय दिलाया था। जब बाबा राजबहादुर और दादी रामदेवी ने न नुकुर की तो मिसेज़ बोस ने उन्हें पहली पुत्री मुन्नी की कम अवस्था में विवाह और संतान जन्म में मृत्यु के दुष्परिणाम की याद दिलाई, सुशीला आगे पढ़ीं, मेरी बहनें, कमला और कामिनी भी- और अब मैं, भयातुर, उन्हीं मिसेज़ बोस के सम्मुख खड़ी थी। उन्होंने फ़ाइल से सिर उठाया, हल्के से मुस्कराईं, बोलीं, "तुम्हें मैरिट-स्कॉलरशिप मिल रही है-"

मैं आश्चर्य से उन्हें देखती रह गई, ग्रहण करने में कठिनाई हुई कि उन्होंने क्या कहा-

उनकी कुर्सी के पास खड़े हुए हेड क्लर्क पन्नालाल ने कहा "हाई स्कूल में फर्स्ट आने पर तुम्हें बोर्ड से सोलह रुपये महीने की मेरिट स्कॉलरशिप मिल रही है, यह लो चार महीने का बक़ाया, चौंसठ रुपये- यहाँ दस्तख़त कर दो-"

एक तन्द्रावस्था में मैं क्लास में वापस आई, मुट्ठी में रुपये थे। मेरे पास उन दिनों बटुआ या पर्स तो होता नहीं था, पास की डेस्क पर बैठी सहेली किरण से उसका रुमाल माँगा और सावधानी से गाँठ बाँधकर रुपये सहेज लिये।

शाम को घर आई, आँगन में कोई नहीं था- माँ अपनी मशीन खोले विचारमग्न बैठी थीं-आधा सिला कोई कपड़ा सामने था- वह अकेली थीं, उदास-

मैंने रुमाल उनकी मुट्ठी में थमा दिया- "माँ, यह लो, रखो, चौंसठ रुपये-" वह मेरी, अब तक ज़िन्दगी का एक यादगार क्षण है, मुझे कभी इतनी ख़ुशी या सुकून नहीं मिला, जैसा उस समय मिला-जब माँ ने रुमाल खोला और मुड़े-तुड़े दस-दस के नोट उनके आगे गिर गए। माँ की वह भावमुद्रा मेरे स्मृति पटल पर अंकित है, होंठों पर विस्मय और आनन्द की हँसी, सजल नेत्र, उनका स्वभाव था। अपनी भावनाएँ छिपाने के लिए हँसती थीं, पर आँखों से आँसू टपकने लगते थे।

फिर उन्होंने कानपुर की मशहूर दुकान से साठ रुपये का शानदार चमड़े का सूटकेस ख़रीदा और हम ठसक से विवाह में सम्मिलित हुए।

अब इतने वर्षों बाद, उस क्षण को पुन: स्मृति में उजागर करते हुए मुझे बहुत संतुष्टि मिलती है कि मेरे चार महीनों की स्कॉलरशिप के वह चौंसठ रुपये माँ के उस दुखी और बदरंग जीवन में कितना बड़ा अंतर लाए।

सूटकेस सराहा गया और माँ मुस्कराती रहीं।

***

माँ जब ख़ुश होकर हँसती थीं तो मुझे वह दुनिया की सबसे सुन्दर स्त्री लगती थीं- वैसे उनका शुमार सुन्दर स्त्रियों में होता यदि वैधव्य की छाया उन्हें न ग्रसित कर चुकी होती।

1976-77 में मैंने छह सात महीने भारत में बिताए थे, विश्वविद्यालय से छुट्टी लेकर, दादा के घर, फ़िरोज़शाह रोड पर-तब तक तीनों भतीजियों सविता, रेखा, छाया के विवाह हो चुके थे और वह दिल्ली आती जाती रहती थीं, माँ के कमरे में दूसरी चारपाई है मेरा डेरा था।

माँ कभी कोई इच्छा व्यक्त नहीं करती थीं- जैसे उन्होंने अपने जीवन की सारी इच्छाओं, कामनाओं को बर्ख़ास्त कर दिया था। मगर एक दिन उन्होंने कहा "सत्य साईं दिल्ली आ रहे हैं; तालकटोरा गार्डन में, दादा होते तो ले जाते।"

दादा उनके अनुयायी नहीं थे, मगर सत्य साईं की उन पर अनुकम्पा थी। उन्होंने दादा को एक रुद्राक्ष की माला दी थी जो वह पहने रहते थे-

मैं तब कुछ समय से बीमार थी-बीमारी क्या है, यह दादा के बड़े-बड़े डॉक्टरों को दिखाने से भी पता नहीं चल रही थी-पता चलती भी कैसे- उसे पता लगाने वाली मशीन तब भारत में उपलब्ध ही नहीं थी- हुआ यह था कि मेरी दो छात्राएँ जापान यात्रा से दिल्ली आई थीं और मेरे घर कुछ दिन रही थीं- उनसे मुझे फ्लू जैसी बीमारी हो गई थी- यह बीमारी ख़त्म नहीं हुई थी-मेरे दिल तक चली गई थी और मेरे दिल की झिल्ली में पानी एकत्र होने लगा था। उन दिनों मैं सुस्त सी चारपाई पर ही पड़ी रहती थी- दिल की तेज़ धड़कन कानों में

गूँजती रहती थी-

तीन दिन बाद माँ सुबह, आदत के अनुसार नहा कर निकली, पूजा करी और आँगन में आकर कहा "सत्य साईं आज आए हैं-नौ बजे से समारोह है"- उनकी आवाज़ में न जाने कैसी चाहना, कैसा खेद था कि मैंने कहा तुम जाना चाहती हो माँ-

"अरे, वहाँ लाखों की भीड़ होगी- उनके दर्शन भी नसीब नहीं होंगे-" उनके स्वर में मायूसी थी- मैं तत्परता से उठ बैठी "चलो, मैं लिए चलती हूँ-"

मैंने बिना नहाए ही साड़ी बदल ली- चप्पलें पहनीं, पर्स उठाया और कहा "चलो।"

मुझे बड़ा अचरज हुआ जब कि गेट पर ही हमें खाली ऑटो मिल गया, वैसे इस सड़क पर सवारी कम मिलती थी- अक्सर एक मील चलकर जनपथ ही जाना पड़ता था। हम तुरत फुरत तालकटोरा गार्डन पहुँच गए- मैं अभी ऑटो वाले को किराया दे रही रही थी कि एक वालंटियर ने माँ के पास आकर पूछा "दर्शन करने हैं-चलिए-" और वह हम लोगों को विशाल पंडाल के अन्दर ले गया, और ठीक स्टेज़ के नीचे हमें बैठा दिया। हमने भजन कीर्तन भी सुना और सत्य साईं को अपने इतने निकट से देखा कि हम अगर चाहते तो उनके गेरुआ वस्त्र छू भी सकते थे-

लौटते समय माँ का चेहरा कितना स्वस्तिपूर्ण, कितना उल्लासित लग रहा था- "तुम्हारी वजह से सत्य साईं बाबा के दर्शन भी हो गए।"

बस, केवल इतना ही-मगर माँ के लिये यह एक अद्‌भुत, अपूर्व स्वप्न था- जो अनायास ही पूरा हो गया।

पचपन खम्बे लाल दीवारें या रुकोगी नहीं राधिका पर माँ ने कोई टिप्पणी नहीं दी, न मेरी कहानियों पर-मगर मेरा लेखकों के साथ उठना-बैठना उन्हें अच्छा लगता था।

मेरे माँ का नाम प्रियम्वदा लेने पर यदि वह मन ही मन प्रसन्न हुई होंगी, उन्होंने कभी ज़ाहिर नहीं किया, मगर वह नियमित रूप से सप्ताह में मुझे एक पत्र अवश्य लिखती थीं- नीले रंग का अन्तर्राष्ट्रीय पत्र-उसमें घर, बाहर, परिवार की ख़बरों के साथ एक दो पंक्तियाँ ज़रूर होती थीं- "ज्ञानोदय से तुम्हारी कहानी के ४० रु. आए हैं, या "सारिका" से या "धर्मयुग" से।" साथ-साथ टिप्पणी भी होती थीं, "तुमने लिखा था कि ओम प्रकाश "पचपन खम्बे" की रायल्टी भेजेंगे, वह तो भेजे नहीं, अक्षर ने भी "रुकोगी नहीं राधिका" पर कुछ नहीं दिया, पर सुना कि किताब धड़ाधड़ बिक रही है। 'वापसी' का सौ रुपये का इनाम भी नहीं आया-

जानकी बुआ को तो दो रुपये की पेन्शन मिलती थी, माँ को तो वह भी नहीं, शायद दादा कभी कभार कुछ रुपये दे देते होंगे, घर गृहस्थी के ख़र्च से शायद कुछ बचता हो, पर उनका ख़र्च ही क्या था, न पान, न सुपारी, न कपड़े लत्ते- बस सफ़ेद सूती साड़ी और विष्णु सहत्र नाम उनके लिए हिन्दी का अख़बार अवश्य आता था और मासिक कल्याण-

मैं उनकी और अपनी ख़ातिर हर वर्ष भारत आती थी, घर पर ही रहती थी, उन्हीं के छोटे से कमरे में एक खाट मेरी भी पड़ जाती थी, वह देर रात तक बातें करती थीं। कौन आया, कौन गया- किसके लिए क्या भोजन बना, यह सब उन्हें याद रहता था। चारों ओर संसद सदस्य थे जो अपने समय के नामी स्वतंत्रता संग्रामी थे, या फिर बाद में नामी हुए जैसे लल्लू लाल यादव , या तारकेश्वरी सिन्हा- जिनके घर पर मेरा फ़ीरोज़ गाँधी, कृष्ण मेनन और वित्तमंत्री मोरारजी देसाई से मिलना हुआ।

जब मैं बाहर जाने को तैयार होती तो माँ, पूछती ज़रूर थीं- "कहाँ जा रही हो? किसके साथ।"

"अज्ञेय जी आएँगे, इला और निर्मल के साथ।"

"ठीक है-" यदि उनके मन में कोई भाव उठता भी था तो उसे प्रदर्शन करना उनका स्वभाव नहीं था।

मेरे लौटने पर पूछती ज़रूर थी "आ गई? कौन छोड़ गया?"

"निर्मल और गीता-"

"अच्छा कहकर वह करवट बदल लेती- हिन्दी कथा जगत् से वह भलीभाँति परिचित थीं- और मेरे कहने पर मोहन राकेश के घर जा रही हूँ- या भीष्म जी के-" तो वह अच्छा कहकर चुप हो जाती थीं- उन दोनों के घर पास थे और मेरे रात को जल्दी ही ऑटो रिक्शा से आना उन्हें अनुचित नहीं लगता था। जब मैं कहती "आज नगेन्द्र जी आएँगे, या नामवर या राजेन्द्र तो वह साड़ी बदलकर, बाल बनाकर नए सिरे से चोटी करके बाहर बैठक में अवश्य आती थीं और जो भी होता था शर्मीली मुस्कान से उसे नमस्कार करके वापस अन्दर चली जाती थीं-" उन्हें अच्छा लगता था कि जिन साहित्यकारों को वह पढ़ती आई हैं- वह उनकी बैठक में हैं।

मगर माँ को केवल एक बार अभिभूत होते देखा था- यदि मैं कहती कि लखनऊ में यशपाल जी से मिली या भगवती शरण वर्मा ने बहुत शुभाषीष दी तो वह प्रसन्न होती थीं, क्योंकि उन्हें यही लेखक पसन्द थे- वह समयानुसर इन्हीं लोगों को महत्त्वपूर्ण लेखक समझती थीं-और यह सूची अज्ञेय जी पर समाप्त हो जाती थी- क्योंकि नदी के द्वीप उन्हें अच्छी लगी थी। बाद के लोग तो मेरे समवयसी थे, और अभी नाम बना रहे थे।

मेरी मित्र निर्मला जैन के छोटे बेटे के विवाह का समारोह था- वैसे माँ घर से बाहर कहीं नहीं जाती थीं, पर निर्मला के बहुत आग्रह करने पर वह राज़ी हो गईं। उस भव्य समारोह में काफ़ी लेखक उनके पहचाने हुए थे- मगर लौटते समय उन्होंने टैक्सी में पूछा, "वह जो वृद्धसज्जन थे, जिन्होंने खड़े होकर तुम्हारे सिर पर हाथ रख कर आर्शीवाद दिया था, कौन थे?"

"माँ वह जैनेन्द्र जी थे।"

"जैनेन्द्र जी-" माँ बहुत पुलक उठीं, "वह जैनेन्द्र जी थे।" अब सोचती हूँ कि मुझे उनका परिचय कराना चाहिए था, मगर माँ बहुत शर्मीली थीं, शायद राज़ी न होतीं, घर आए लेखकों से मिलने के लिए वह बैठक में आती ज़रूर थीं, पर टिकती नहीं थीं, लज्जामय मुस्कान से नमस्ते का उत्तर देकर अन्दर लौट जाती थीं- केवल नामवर जी थे, जिनके आने पर माँ बाहर बैठती थीं और हमारी साहित्य चर्चा पर हलके-हलके मुस्कराकर आनन्द भी लेती थीं।

धर्मयुग में जब 'रुकोगी नहीं राधिका' प्रकाशित हो रही थी, तब तक माँ ने मुझसे अपने नाम का जुड़ना स्वीकार कर लिया था। मेरी स्कैंडिनेविया का यात्रा वृत्तांत भी उन्हें अच्छा लगता था, बल्कि वह मैंने उन्हीं को दृष्टि में रख कर लिखा था यह बताने के लिए कि उनसे दूर रहकर मेरा जीवन कैसा है और उन्हें वह पसन्द भी आया था।

सन् 1984 में "शेष यात्रा" लिखने के दौरान मैं दिल्ली में थी, "जब किराए पर फ्लैट लिया था, और माँ को अपने पास रहने को बुलाया था, 1981 में विस्थापित होने के बाद उन्होंने एक बार फिर दिल्ली में अपनी गृहस्थी स्थापित की थी; हमारे सभी संबंधी उनसे मिलने के लिए आते रहते थे, और वह प्रशान्त की पहली भारत यात्रा थी जिसमें वह पूरे-पूरे रम गए थे। मेरी एक छोटी सी स्टडी थी, जिसमें एक बड़ी मेज़ थी जिस पर मैं रोज़ सुबह अपना उपन्यास लिखती थी- पर माँ के लिए वह समय होता था घर की साफ़ सफ़ाई और झाड़ू पोंछे का-दूधवाले, सब्जी वाले के आने की, उनकी नौकरानी रोज़ झाड़ू लेकर प्रगट हो जाती थी और यदि मैं उसे चला जाने को कहती तो माँ को बहुत रोष होता, घर में एक कमरा बिना झाड़ू पोंछे के कैसे रह सकता था? मैंने रोज़-रोज़ की चिकचिक से तंग आकर माँ से कहा "सुनो, तुम्हें पता है दूसरे लेखक कैसी परिस्थितियों में लिखते हैं?" जब मैं, समय लेकर, श्रीमती रमेश के साथ अनीता देसाई से मिलने गई थी, तो उनके घर में सम्पूर्ण सन्नाटा था- उनके नौकर ने बिना आहट किए दरवाज़ा खोला था और बिना कुछ कहे बैठक में बैठा दिया था, मैं और श्रीमती रमेश बिलकुल चुप बैठे रहे; पन्द्रह-बीस मिनट बाद अनीता देसाई आईं, थोड़ी सी दुआ सलाम के साथ, उन्होंने बहुत मन्द स्वर में क्षमा माँगते हुए कहा, यह उनके लिखने का समय है, यद्यपि यह समय पूर्वनिर्धारित था जो उन्होंने स्वयं श्रीमती रमेश को दिया था, हम उठ खड़े हुए और चले आए। दस मिनट से कभी कम के लिए हमने उनके घर जाने की ज़िल्लत उठाई। और तुम हो-तुम्हारी नौकरानी जो झाड़ू और पोंछे की बालटी लेकर मेरे सिर पर खड़ी रहती हैं। माँ प्रभावित नहीं लगीं, सिर्फ़ कहा- "हुँह, होंगी अनीता देसाई, यहाँ तो ऐसे ही चलेगा।"

तब मैं हँसने लगी, झाड़ू पोंछे के समय पैर उठा लेती थी और लिखती रहती थी।

जब मैं घर लौटकर माँ को बताती थी "माँ-लेखिका संघ की मीटिंग में शिवानी मिली थीं-अक्सर उन्होंने मुझे बहुत प्यार से गले लगाया-बड़ा अच्छा लगा"-तो माँ मुस्कराने लगती थीं।

"देखने में शिवानी कैसी हैं?" उन्होंने पूछा।

"एकदम गोरी, बहुत आत्मीय व्यवहार सुन्दर चेहरा, प्रशस्त ललाट।"

"अच्छा", कहकर माँ मुस्करा दीं।

***

माँ कभी कोई इच्छा व्यक्त नहीं करती थीं- बस एक बार जब लेखक संघ की मीटिंग में मैं कलकत्ता जा रही थी तो उन्होंने हल्के से, लज्जालु स्वर में कहा "अगर हो सके, तो हमारे लिए दो एक कलकत्ता की सूती साड़ी ले लेना" आश्चर्य की बात है कि मुझे उन तीन दिन के सत्रों की कोई स्मृति नहीं है, न निर्मला का व्यक्तव्य या राजी सेठ का मेहनत से तैयार किया पर्चा- केवल याद है "कुन्दविहार" या ऐसे ही नाम दुकान से माँ के लिए सूती साड़ियों की ख़रीदारी-वह प्रसन्न हुई थीं, उन्हें पसन्द आई थीं। अभी भी उनकी एक सूती धोती मेरे पास है, बहुत दिनों तक तकिये के पास रखी रही थी और उसमें जैसे उनके त्याग और प्यार की ख़ुशबू बस गई थी।

कुछ वर्षों बाद मैंने भारत आने पर माँ से कहा; तुम्हें एक मज़ेदार बात बताऊँ? जैनेन्द्र जी मैडिसन आए थे, मैंने ही निमंत्रण भेजा था। भाषण देने का। मैं ही उन्हें लेने गई, लौटकर हम यूनिवर्सिटी आए, मैंने आदर से उन्हें अपने कमरे में बैठाया, उनके साथ दो लोग और थे। मैंने पूछा "लंच का प्रबंध है" तो उन्होंने कहा कि लंच तो उन्होंने शिकागो में ही कर लिया था, हाँ चाय पी सकते हैं- तो मैं उठी, बिजली की केतली में पानी उबलने रख दिया, प्याले, चाय, चीनी, दूध सब विभाग के फ्रिज से निकाल कर लाई- मुझे प्याले प्लेटें ट्रे में रखते देखकर जैनेन्द्र जी ने कहा "अरे, तुम चाय बना रही हो- किसी चपरासी को बुला लो"- इस पर माँ बहुत हँसीं, अमेरिका में विभागों में चपरासी नहीं होते, यह बात उन्हें मालूम थी, जैनेन्द्र जी मेरे शहर में आए और उन्होंने मेरे हाथ की बनी चाय पी, इस बात से वह बहुत तुष्ट लगीं।

"उन्होंने रात का खाना खाया?" मुझसे पूछा।

"नहीं, वह भाषण के बाद ही लौट गए-" मैंने कहा।

"अच्छे को तुमने खाना बनाकर नहीं खिलाया, नहीं तो नगेन्द्र जी की तरह शिकायत होती।" माँ को मेरी किसी भी क्षमता पर भरोसा नहीं था।

"नगेन्द्र जी की तीन दिन की ख़ातिरदारी में तो मैं पिस गई, फिर भी उन्होंने तुमसे मेरी शिकायत ही की।" मैंने कहा।

वह हमारे विभाग का स्वर्णकाल था, वह पूरे अमेरिका में सर्वोपरि था, बर्कले नम्बर दो पर- हमारी हिन्दी की टीम की बराबरी कहीं नहीं थी, न संस्कृत की, न तिब्बती की, हमारे यहाँ नेपाली भी थी, तेलुगु और उर्दू भी- बड़े-बड़े लेखक और कलाकार हमारे यहाँ आते रहते थे, रविशंकर, अल्ला रक्खा, शिव शंकर शर्मा से लेकर गुंडेचा ब्रदर्स, बिरजू महाराज, ज़ाकिर हुसैन, अन्य थे, श्याम बेनेगल, अभिताव घोष, गिरीश कर्नाड- विजय तेंदुलकर लम्बी नामावली- अभिय चक्रवर्ती, जो रवीन्द्रनाथ के साहित्यिक सेक्रेटरी रह चुके थे, हमारे विशिष्ट अतिथि हुआ करते थे- और उस सभी पीढ़ी के लेखक, कलाकार हमारे आतिथ्य से सतुंष्ट हो कर जाते थे, और जब भी अवसर होता, अवश्य आते थे।

वर्षों बाद मैंने राजन मिश्र से कहा "मैं गायिका बनना चाहती थी, परन्तु अवसर या सुविधा नहीं मिली।"

उन्होंने कहा "तो क्या हुआ-कितनी बड़ी लेखिका बन गईं, हमारा जीवन तो एक संघर्ष रहता है।"

मगर यह बताने के लिए माँ नहीं थीं।

000

समाप्त

कथा-कहानी

झंझट ख़त्म

शिखा वार्ष्णेय

शिखा वार्ष्णेय
64, वेन्सलेडेल एवेन्यू, इल्फोर्ड - IG5 0NB लंदन (यू के)
मोबाइल- +447428633144
ईमेल- shikha.v20@gmail.com

लन्दन में जून का महीना सबसे खुशनुमा होता है। सुबह चार-पाँच बजे से दिन चढ़ आता है। खिड़की से धूप झाँकने लगती है और आप चाहकर भी सोये नहीं रह पाते हैं। अब ऐसे ही पड़े रहने का क्या फायदा। उठकर जैसे ही खिड़की से पर्दा सरकाया, मार्तण्ड की रश्मियाँ पूरे जोश से कमरे में दाखिल हो गईं।

सुबह की चाय हाथ में लेकर, फ़ोन पर ईमेल खोला तो कुछ प्रोमोशनल ईमेल के साथ ही एक इम्पोर्टेंट मार्क का ईमेल भी था। क्लिक किया तो पता चला ऑफ़िस के एक कलीग के पिताजी के फ्यूनरल की मीटिंग का सूचना पत्र था। जिनकी मृत्यु पिछले दिनों ही अचानक हार्ट फेल होने से हो गई थी। ईमेल के साथ ही एक डिजिटल कार्ड भी जुड़ा हुआ था। इसमें दो पंक्तियों के एक सन्देश के साथ मीटिंग यानी 'फ्यूनरल टी' की जगह का पता, तारीख और समय लिखे हुए थे। और साथ में, आर एस वी पी में उनके बेटे का नाम भी लिखा हुआ था। यानी आप शामिल होंगे या नहीं इसकी सूचना नियत समय से पहले देनी थी। जिससे कि वे आने वालों के हिसाब से इंतज़ाम कर सकें।

उनकी मृत्यु के दिन तो जाने का सवाल नहीं था। बस घरवाले ही मिलकर उसी दिन उनका संस्कार कर आए थे। सब कुछ व्यवस्थित था ही। बस फ्यूनरल सर्विस को फ़ोन किया और सब हो गया। हम सबको दूसरे दिन ख़बर लगी थी तो बस कलीग को एक संवेदना वाला मैसेज ही भेज दिया था। पर अब मैसेज आया है तो इसमें तो जाना चाहिए। चाय का स्वाद अचानक फीका सा हो गया। पता नहीं ऐसी कोई ड्रेस भी अलमारी में है या नहीं। फिर वहाँ जाकर करना क्या होता है यह भी तो नहीं पता। वैसे जैसा सुना है लोगों से, यहाँ तो बहुत ही सभ्य और व्यवस्थित तरीके से सब होता है। सब सज-धज कर जाते हैं। खाते-पीते हैं, मृतक के कुछ नज़दीकी लोग उसकी याद में कुछ भाषण देते हैं और बस... फिर सब हाथ मिलाकर अपने अपने घर चले जाते हैं। यूँ तो यहाँ जो भी होता है अब, तो फ्यूज़न सा ही होता है। यहाँ की व्यवस्था और अपने धर्म-समुदाय के मुताबिक थोड़ा सामंजस्य बैठाकर काम कर लिए जाते हैं। जैसे मृत्यु पर भी हम भारतीय लोग तो बिना बुलाये भी चले जाते हैं दुख प्रकट करने। फिर संस्कार के बाद एक जगह पर कुछ ड्रिंक्स की व्यवस्था होती है और बस वहाँ मिलने-जुलने की औचारिकता और शोक और दुख प्रकट करना पूरा हो जाता है। फिर मरने वाला कोई ऐसी हस्ती हो जिसका कि सामाजिक दायरा और पद बड़ा हो, तो कुछ दिन बाद "सेलेब्रेशन ऑफ़ लाइफ" नाम से एक भोज और सभा रखी

जाती है। जहाँ फिर लोग मृतक को याद कर अपनी-अपनी बात कहते हैं, परन्तु हमारे लोग अपने यहाँ की तेरहवीं और इनका सेलेब्रेशन ऑफ़ लाइफ दोनों का फ्यूज़न मिलाकर एक भोज सभा सी रख लेते हैं। जिसमें मृतक के सभी जानने वालों को औपचारिक रूप से बुला लिया जाता है। नहीं करने वाले नहीं भी करते। जो भी हो काफी व्यवस्थित होता है सब कुछ। न दहाड़ मार कर रोना-धोना, न दुखी होने का दिखावा और न ही फ़ालतू के रिवाज। पर ऑफ़िस वाली नीति ने बताया था कि बहुत महँगा होता है यह सब। और अपने जीते जी ही इसकी व्यवस्था करके जाना होता है। हर एक के ज़रूरत और बजट के हिसाब से अलग-अलग पैकेज हैं फ्यूनरल सर्विस वालों के। महँगे से महँगे। पर बेसिक वाला भी सस्ता नहीं है। बाकी सब भी खुद ही सोच कर, बता कर जाना होता है। कह रही थी उसने अपने लिए फूल भी चुन रखे हैं कि कौन से लगेंगे।

हाए राम ! मैंने तो कुछ भी नहीं सोचा है अब तक। पैसे तो खैर थोड़े बहुत बचा लिए हैं। कल भी मर जाऊँ तो बेसिक पैकेज तो आ ही जाएगा, परन्तु और भी तो सोचना है। एक साड़ी भी लेनी होगी। हमारे यहाँ तो लाल पहनाते हैं शायद। पर यहाँ तो टैकी लगेगी वह सबको। मुझे भी लाल रंग कहाँ पसंद है। बहुत लाउड और भड़कीला रंग लगता है। और उसको पसंद करने वाला लगता है बहुत गर्म दिमाग़ और ग़ुस्सैल सा होगा। कभी-कभी खुद पहन लेती हूँ तो लगता है जैसे इस रंग के कपड़े के अन्दर मैं हूँ ही नहीं, कोई और है। शादी पर पहनना पड़ा था तो अजीब सा महसूस हो रहा था मुझे तो। कोई हलके रंग की ले लूँगी। तब भी तो... मैं जो भी चुनुँगी वह, छीईई... ही करेंगे ये घरवाले। फूल तो चलो ठीक हैं। लिली वैसे भी पसंद हैं पति को तो उसमें तो कोई समस्या नहीं होगी। मुझे भी सफ़ेद रंग पसंद है। एक गाना भी तो चुनना होगा। मुझे तो हिन्दी का पुराना गीत ही पसंद है। बचपन से वही पसंद है। न जाने क्यों। जिस उम्र में बच्चे 'लकड़ी की काठी' गाते, सुनते थे मैं वह ग़ज़ल नुमा गीत सुनती थी। कैसा सुकून सा था जगजीत सिंह की आवाज़ में। रूह तक पहुँचती है एकदम। पर वह तो यहाँ कोई नहीं बजाने देगा। बेटी कहेगी, यह क्या समझ आएगा किसी को। कोई वेस्टर्न इंस्ट्रुमेंटल बजा दो। आख़िर मिलने वाले तो ज़्यादातर उनके ही आएँगे। जाने के लिए लिमोज़ीन ठीक रहेगी क्या? अरे नहीं ! इतनी लम्बी क्या करनी, कोई छोटी कार ही देख लूँगी। लेट के पूरी आ जाऊँ बस। पैर न मुड़ें। खाने में भी हाई टी रखवा दूँगी। उसमें वेज-नॉनवेज की समस्या कम होती है। समोसा तो ये अंग्रेज़ भी शौक से खा लेते हैं। साथ में एक दो तरह के सैंडविच। मन तो मेरा सूशी रखवाने का है। यह जापानी व्यंजन बेहद पसंद है मुझे। समुद्री सिवार- सा यह जीवन। उस पर सख्त, मुलायम सब्जियों रूपी सुख- दुख को जमाये रखने के लिए, स्टिकी चावल से ये रिश्ते। यह ज़िंदगी भी "सूशी" सी तो है। छोटी, रंगीन पर अपने आप में सम्पूर्ण।

परन्तु फिर पति का नाक मुँह सिकुड़ेगा। बेकार में बच्चों की आफत होगी। जाने दो। यह खाना-पीना वे अपने आप देख लेंगे अपने हिसाब से। ड्रिंक का तो मुझे पता ही नहीं है वैसे भी। यूँ भी ज़्यादा कोई कुछ करेगा नहीं। वरना मन तो मेरा है कि एक ख़ास कविता कोई पढ़ दे वहाँ मेरे नाम से, पर बेटा और पति तो पढ़ने से रहे। बेटी शायद पढ़ दे। पर वहाँ सुनेगा कौन! छोड़ो। कहेंगे जीते जी तो फ़ालतू काम करती रही सब, मर के भी बोर कर रही है। खैर जो भी हो। ज़रूरत भर के पैसे ज़रूर छोड़ जाऊँगी कि किसी पर बोझ न पड़े बाद में। अपने कपड़ों वाली दराज़ में रख जाऊँगी एक डिब्बे में। पर वहाँ कैसे दिखेगा किसी को। हाँ सामने की मेज़ की दराज़ में रख दूँगी और एक डायरी में सब लिखकर उसे वहीं पास में रख दूँगी।

अरे मम्मी मेरे ईरफ़ोन देखे हैं आपने?

और मेरा चश्मा कहाँ रख दिया ?

अरे देखो न वहीं आँख खोल के। जहाँ होता है वहीं है।

नहीं मिल रहे हैं न। ज़रा देख दो।

उफ़...किसी को अपनी कोई चीज़ अपने आप मिलती है इस घर में?

ये हैं तो... एकदम सामने पड़े हैं। ज़रा तो नज़रें घुमा लिया करो। इतनी बड़ी-बड़ी आँखें दी हैं भगवान् ने।

सामने पड़ी चीज़ तो दिखती नहीं इन्हें। मेज़ की दराज़ में ज़रूर मिल जाएगी डायरी और पैसे हुंह! अरे इतने झंझट से तो बेहतर है कि कह दूँ कि इंडिया ले जाना। वहाँ मेरे अपने तो होंगे। कुछ कर करा के छुट्टी होगी। ज़रा यहाँ से बॉडी ले जाने का खर्चा ही तो होगा। रख जाऊँगी इतने पैसे तो निकाल कर कहीं। उसके बाद का काम तो वहाँ नाते रिश्तेदार कर लेंगे। इसी बहाने बच्चे इंडिया हो आएँगे। अपनी मिट्टी में ही मिल जाऊँगी तो क्या पता सुकून आ जाए मरने के बाद कुछ। अरे पर गर्मी में मरी तो मुश्किल हो जाएगी बड़ी। बच्चों को बड़ी परेशानी होगी। बेटे से तो बर्दाश्त ही नहीं होती ज़रा भी गर्मी और बेटी को तो सूरज से ही एलर्जी है। फिर वहाँ भी पता नहीं कैसा इंतज़ाम होगा। कहाँ करेंगे। अब वहाँ भी कौन ऐसा अपना धरा है जो ढंग से निबटा ले। फिर वे मिलने-जुलने वाले। ऐसा रोना–धोना और हंगामा मचाते हैं वहाँ लोग जैसे उनकी ही दुनिया उजड़ गई हो। बेचारे बच्चे तो डर ही जाएँगे। वे तो यहाँ रहते हैं तो मैं बच जाती हूँ इस तरह की नौटंकी देखने, भुगतने से। वर्ना एक बार इत्तेफाक से वहाँ थी तो जाना पड़ा था किसी के घर ऐसे मौके पर। देखकर दिमाग़ ख़राब हो गया था। सारी औरतें एक जगह मजमा-सा लगा के बैठी थीं। जैसे ही कोई नया मिलने वाला आता उनका सप्तम स्वर में रुदन शुरू हो जाता। हर बार एक सा समवेत सुर। दो मिनट तक चलता फिर आँख, नाक पल्लू से पोंछकर दुनिया भर की पंचायत शुरू। फिर पाँच मिनट बाद ही सबको चाय, नाश्ता याद आने लगेगा। कोई कहेगा अरे फ्रिज का पानी नहीं है क्या? तो ज़रा बर्फ ही डाल दो, उबल सा रहा पानी। किसी को चीनी वाली चाय चाहिए होगी, किसी को बिना चीनी की, फिर वे हिन्दुस्तानी अंग्रेज़ फूफाजी आएँगे तो उनकी पत्नी श्री कहेंगी अरे इनके लिए तो कोई ब्लैक या ग्रीन टी बना दो, दूध वाली से गैस बनती है इन्हें। किसी को खाने को पूरी चाहिए होगी कि कच्चा नहीं बनेगा, तो किसी को रोटी चाहिए होगी कि पूरी नहीं पचेगी। हे भगवान् !

कैसे सँभालेंगे बच्चे सब। फिर वहाँ के रिवाज। दकियानूसी बातें। बेटी तो हत्थे से उखड़ जाएगी। उसे तो वैसे ही फेमिनिज़्म का कीड़ा है। आख़िर बेटी किसकी है। मुझे भी तो कितने बुरे लगते हैं ये सारे रिवाज। बिना मतलब के। औरत मरी तो कफ़न तक मायके से आएगा। बेचारे मायके वाले न हों तो किसी भी दूर दराज के मायके वाले को ढूँढ़ लेंगे। बेशक जीते जी, मरने वाली ने उसका नाम भी न सुना हो। न जाने और भी क्या-क्या। तीसरे दिन यह होगा, पाँचवें दिन यह खबेगा, तेरहवीं पे इतने ब्राह्मण आएँगे, और वहाँ के पंडित, उनका तो बस पूछो ही मत। इतने कानून निकालेंगे हर बात पर कि बेचारा कानून शरमा जाए। ये बेटियों के करने काम है, यह बस बहुएँ करेंगी जी...फलाना काम लड़कियाँ नहीं कर सकतीं, इस कर्म के लिए बेटा लाओ। बेटा न हो तो कोई 'बेटा सा' ले आओ। देवर, भतीजा, यहाँ तक कि पड़ोसी का लड़का भी चलेगा पर नहीं, बेटियाँ नहीं कर सकतीं।

मेरा बस चले तो ये सारे कर्मकांड ख़त्म करा दूँ। बेचारे घरवाले किसी अपने के मरने से इतने दुखी और परेशान न हों जितना ये रिवाज और इन्हें समझाने, मनवाने वाले उन्हें कर दें।

अरे न न ... रहने दो इंडिया। नहीं जाना मुझे। बेचारे सब पहले ही इतने दुखी होंगे। बच्चे तो बहुत रोएँगे सच्ची। उस पर वहाँ के इतने झंझट। नहीं नहीं। मुझे नहीं करना परेशान उनको बिना बात। बेचारे सब करेंगे भी और सुनेंगे भी। बेकार में फ़ज़ीयत और हो जाएगी।

यह लो! चाय भी ख़त्म हो गई। इंडिया का प्लान कैंसिल। अब चल कर तैयार हो जाऊँ। ऑफ़िस तो जाना ही पड़ेगा न। मरने के बाद का बाद में सोचा जाएगा। अभी थोड़े न मर रही हूँ। वैसे भी पति कहते रहते हैं दस बीस को मार के ही मरोगी। मज़ाक ही सही। मन तो बिलकुल नहीं कर रहा आज कहीं भी जाने का, ये मुई मौत दिमाग़ में जाकर अड़ गई है। एक भी साँस का भरोसा नहीं है। अभी है, दूसरे ही पल सब ख़त्म। आज तो बस मन कर रहा है अकेले उस खिड़की के सहारे लगी कुर्सी पर बैठकर जो पल उपलब्ध हैं उन्हें जी लूँ। ऑफ़िस फ़ोन कर के कह देती हूँ कि तबियत ठीक नहीं है। फ्लू का मौसम है मान लेंगे सब। वैसे भी नीति के लिए उसकी तीन शिफ्ट कर चुकी हूँ। एक तो वह भी कर सकती है मेरे लिए। सँभाल लेगी।

ठीक है। फटाफट कार से स्टोर जाकर कुछ चीज़ें ले आती हूँ फिर आराम से बैठूँगी पूरा दिन। कभी किसी के साथ डेट पर तो गई नहीं। आज अपने साथ ही डेट करती हूँ। खुद के साथ समय बिताती हूँ कुछ।

यह काम भी क्यों छूटे। डेट पर जाना- कितना बकवास सा कांसेप्ट है। कोई मतलब भी है इसका? अरे ऐसे ही मिलने, खाने, फिल्म देखने, बतियाने चले जाओ किसी के भी साथ। यह डेट का क्या मतलब हुआ आज तक नहीं समझ में आया मुझे। वैसे भी यह इश्क, रोमांस कभी पचा ही नहीं मुझे। पर करती है दुनिया। आजकल तो फैशन और बढ़ गया है। अब तो हर चीज़ की डेट। मूवी डेट, डिनर डेट, अलाना डेट, फलाना डेट। ठीक है! एक 'सेल्फ डेट' भी कर के देख लेते हैं। एक काम यह भी ख़त्म हो।

कार का रेडियो –

बेबी डॉल मैं सोने दी ....

चैनल चेंज – यो यो हनी सिंह...

उफ़ इन हिन्दी रेडियो वालों को भी चलाने को कुछ ढंग का नहीं मिलता।

अब सुनिए समाचार और मौसम की जानकारी।

चलो यही ठीक है।

विज्ञापन – बिना अंग प्रत्यारोपण के मरने वालों में दक्षिणी एशिया मूल के मरीज़ों की संख्या सर्वाधिक है। क्योंकि वे अपने अंग दान नहीं करते। कृपया मृत्युपरांत अपने अंग और शरीर दान कीजिए और किसी की ज़िंदगी बचाइए। आज आप किसी को देंगे तो कल कोई आपके किसी अपने को देगा। अंग या शरीर दान करने के लिए अधिक जानकारी के लिए कृपया इस नंबर पर कॉल करें या इस साइट पर लॉगइन करें।

आह .... मिल गया हल। बस.... अब चैन से मरूँगी। झंझट ख़त्म...

000

फार्म IV

समाचार पत्रों के अधिनियम 1956 की धारा 19-डी के अंतर्गत स्वामित्व व अन्य विवरण (देखें नियम 8)।

पत्रिका का नाम : विभोम स्वर

1. प्रकाशन का स्थान : पी. सी. लैब, शॉप नं. 3-4-5-6, सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट, बस स्टैंड के सामने, सीहोर, मप्र, 466001

2. प्रकाशन की अवधि : त्रैमासिक

3. मुद्रक का नाम : ज़ुबैर शेख़।

पता : शाइन प्रिंटर्स, प्लॉट नं. 7, बी-2, क्वालिटी परिक्रमा, इंदिरा प्रेस कॉम्प्लैक्स, ज़ोन 1, एमपी नगर, भोपाल, मप्र 462011

क्या भारत के नागरिक हैं : हाँ।

(यदि विदेशी नागरिक हैं तो अपने देश का नाम लिखें) : लागू नहीं।

4. प्रकाशक का नाम : पंकज कुमार पुरोहित।

पता : पी. सी. लैब, शॉप नं. 3-4-5-6, सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट, बस स्टैंड के सामने, सीहोर, मप्र, 466001

क्या भारत के नागरिक हैं : हाँ।

(यदि विदेशी नागरिक हैं तो अपने देश का नाम लिखें) : लागू नहीं।

5. संपादक का नाम : पंकज सुबीर।

पता : रघुवर विला, सेंट एन्स स्कूल के सामने, चाणक्यपुरी, सीहोर, मप्र 466001

क्या भारत के नागरिक हैं : हाँ।

(यदि विदेशी नागरिक हैं तो अपने देश का नाम लिखें) : लागू नहीं।

4. उन व्यक्तियों के नाम / पते जो समाचार पत्र / पत्रिका के स्वामित्व में हैं। स्वामी का नाम : पंकज कुमार पुरोहित। पता : रघुवर विला, सेंट एन्स स्कूल के सामने, चाणक्यपुरी, सीहोर, मप्र 466001

क्या भारत के नागरिक हैं : हाँ।

(यदि विदेशी नागरिक हैं तो अपने देश का नाम लिखें) : लागू नहीं।

मैं, पंकज कुमार पुरोहित, घोषणा करता हूँ कि यहाँ दिए गए तथ्य मेरी संपूर्ण जानकारी और विश्वास के मुताबिक सत्य हैं।

दिनांक 21 मार्च 2022

हस्ताक्षर पंकज कुमार पुरोहित

(प्रकाशक के हस्ताक्षर)

बहूजी और वह बंद कमरा

डॉ. रमाकांत शर्मा

डॉ. रमाकांत शर्मा
402 – श्रीराम निवास, टट्टा निवासी हाउसिंग सोसायटी, पेस्तम सागर रोड नं. 3, चेम्बूर, मुंबई - 400089
मोबाइल- 9414373188
ईमेल- rks.mun@gmail.com

उन्हें छोटे-बड़े सभी बहूजी कहते थे। उनका असली नाम शायद ही किसी को पता हो; क्योंकि मैंने इस नाम के अलावा और किसी नाम से उन्हें पुकारे जाते कभी नहीं सुना। जिस बड़ी हवेली में हम रहते थे वे उसकी मालकिन थीं। तीन मंज़िला उस हवेली की ऊपरी मंज़िल पर हम रहते थे और सबसे निचली मंज़िल पर केशव दादा का परिवार रहता था। बीच की पूरी मंज़िल में अकेली बहूजी रहती थीं। हम बच्चों को बड़ा आश्चर्य होता कि वे इतने सारे कमरों में अकेली क्यों और कैसे रह लेती हैं।

मुझे अपने घर में खेलने से बहूजी कभी मना नहीं करती थीं। उनके घर का पूरा फर्श चमकदार सफेद पत्थरों से बना था। उन पर फिसलने का अपना अलग ही आनंद था। उनके घर के सबसे बड़े कमरे के दरवाज़े के ठीक ऊपर सोने जैसे फ्रेम में जड़ी एक बहुत बड़ी तस्वीर टँगी थी। यह तस्वीर दद्दाजी यानी बहूजी के पति नरेन्द्रनाथ जी की थी। मैं अक्सर उस तस्वीर को ध्यान से देखा करता। कितना शानदार व्यक्तित्व था उनका। गौर वर्ण, सुगठित शरीर, चौड़ा माथा, सुती हुई नाक और घुँघराले बाल। उस पर थ्री पीस सूट और टाई में सजा उनका शरीर किसी भी अंग्रेज़ को मात देता लगता। वे उस समय के रईस खानदान की इकलौती संतान तो थे ही, नामी बैरिस्टर भी थे। अंग्रेज जजों की अदालतों में जब वे बहस करने को खड़े होते तो अपनी विद्वता से सभी को प्रभावित कर लेते। वे शहर के रईसों और अंग्रेज़ों की सोहबत में उठते-बैठते और नियमित रूप से क्लबों में जाते। उनके घर पर भी आभिजात्य लोगों की बैठकें जमती रहतीं। पूरे शहर में लोग उन्हें इज़्ज़त से देखते और अदब से पेश आते। बहूजी भी दद्दा से किसी बात में कम न थीं। बुढ़ापे की दहलीज़ में प्रवेश कर चुकी बहूजी तस्वीर सी सुंदर नज़र आतीं। तीखे नाक-नक्श और दूध-सा धुला उनका शरीर उन्हें मनमोहक व्यक्तित्व प्रदान करता था।

सर्दियों की दोपहर मुझे बहुत अच्छी लगती क्योंकि खाना हो चुकने के बाद बहूजी के घर की एकमात्र नौकरानी संतो उनकी फोल्डिंग आरामकुर्सी ऊपरी मंज़िल की खुली छत पर रख जाती। हम ऊपरी मंज़िल में रहते थे इसलिए वह बड़ी छत हमारे घर का हिस्सा थी। उनके आते ही धूप खाने के लिए तल मंज़िल के लोग भी वहाँ पहुँच जाते। फिर ज़बरदस्त महफिल जमती। ज़्यादातर चुप रहने वाली बहूजी का तब दूसरा ही रूप होता। वे किस्से-कहानियाँ सुनने-सुनाने का भरपूर आनंद लेतीं और खुलकर हँसतीं। उनका खिलखिलाकर हँसना मुझे बहुत अच्छा लगता। मन करता, वे यहीं हमारी छत पर बैठी रहें और अपनी खिलखिलाहट से सराबोर करती रहें। पर, जैसे-जैसे धूप की चिड़िया फुदककर मुंडेर पर जा बैठती, महफिल उठने लगती और संतो आराम कुर्सी के साथ बहूजी को भी नीचे लेकर चली जाती।

बहूजी का ऐसे हँसना बोलना इसलिए भी अच्छा लगता कि वे ज़्यादातर अपने में गुम रहतीं और बहुत कम बोलतीं। इसका कारण ढूँढ़ना कोई मुश्किल काम नहीं था। दद्दाजी पैंतालीस वर्ष की उम्र में एक एक्सीडेंट में चल बसे थे। वे अपने माँ-बाप की अकेली संतान थे। उनके जाने के बाद बहूजी के ससुराल में कोई रिश्तेदार नहीं बचा था। बहूजी के खुद के मायके में भी उनके माँ-बाप के निधन के बाद कोई नहीं बचा था जो उनकी खोज-ख़बर लेता।

वे दद्दाजी से यही कोई दस वर्ष छोटी थीं। कहते हैं कि दद्दाजी ने किसी शादी में बहूजी को देखा था और उन पर लट्टू हो गए थे। इतने बड़े घर से आए रिश्ते को बहूजी के ग़रीब माँ-बाप ने ईश्वर की कृपा समझकर माथे से लगा लिया और अपनी इकलौती बेटी को आनन-फानन में शादी के बंधन में बाँध दिया। उनकी उम्र उस समय चौदह वर्ष की थी और दद्दा जी यही कोई चौबीस-पच्चीस बरस के रहे होंगे।

बहूजी घोर ग़रीबी से निकल कर अचानक रईसी के माहौल में आ गई थीं। उस छोटी उम्र में उन्हें सब कुछ स्वप्नलोक सा लगता। शुरूआती हिचकिचाहट के बाद वे इस माहौल में रमने लगीं। दद्दा जी ने उन्हें अंग्रेज़ी पढ़ाने और रईसी तौर-तरीके सिखाने के लिए अंग्रेज़ मास्टरनी रख ली। सीखने की उस उम्र में वे सब कुछ इतनी तेज़ी से सीखती चली गईं कि दद्दा जी भी

हतप्रभ होकर रह गए।

बहूजी के बारे में और भी बहुत सी बातें सुनने को मिलतीं, जिन्हें मैं समझना चाहकर भी उस उम्र में समझ नहीं पाता था। मेरी दादी जैसे पुराने लोग फुसफुसाहट के स्वर में बताते कि वे बिल्ली के भागों छींका टूटे की तरह मिली इस रईसी के रंग में डूबती चली गईं। साड़ी की जगह अंग्रेज़ी पोशाकों ने ले ली। वे ब्रिजिश पहनकर घुड़सवारी करतीं, दद्दा जी के साथ क्लबों में जाकर डांस फ्लोर पर थिरकतीं, ताश खेलतीं और सिगरेट के धुएँ के छल्ले उड़ातीं। बहूजी के ये रंग-ढंग समाज के लोगों को बिलकुल पसंद नहीं आते थे, पर वे दद्दा जी के रुतबे के आगे कुछ बोल नहीं पाते थे। इधर दद्दा जी तो बहूजी पर और भी निहाल हो गए। उन्हें वैसी पत्नी मिल गई थी जैसी वे चाहते थे। उनके साथ चलने में उन्हें गर्व महसूस होता। लोग बहूजी के सौंदर्य से अभिभूत होते तो उनका सीना चौड़ा हो जाता। वे उन्हें बड़े अभिमान के साथ क्लबों में ले जाते और यह देखकर खुश होते कि अंग्रेज़ भी उनके उठने-बैठने के तौर-तरीकों के कायल हो रहे थे। वास्तव में, दद्दा जी को कम ही भरोसा था कि बहूजी उनके सर्किल में इतनी जल्दी स्वीकृत हो जाएँगी। उस समय के अंग्रेज़ जज हैरिस के बेटे हेनरी का ज़िक्र लोग दबी ज़बान से करते। कहते वह बहूजी का दीवाना हो गया था और दद्दाजी के एक्सीडेंट के पीछे कहीं न कहीं उसका हाथ था।

सच कहूँ उस समय मुझे इन बातों का कोई ख़ास मतलब समझ में नहीं आता था, पर मैं इतना तो समझता ही था कि बहूजी के बारे में अच्छा नहीं बोला जा रहा। ऐसी बातें सुनकर मुझे बहुत बुरा लगता। मुझे लगता, मेरी दादी जैसे साधारण नाक-नक्श के लोग बहूजी से जलते थे और उनके बारे में ग़लत-सलत बातें करते थे। मैंने तो उन्हें मन लगाकर ठाकुरजी की सेवा करते देखा है। बहूजी की बुराई करने वालों को यह नहीं दिखता कि रोज़ाना दोपहर को उनके घर में भजन के लिए सभी औरतें जमा होती हैं और लगभग दो घंटे तक ढोलक- मंजीरे के साथ भजन गाए जाते हैं।

बहूजी के घर में कुल पाँच कमरे थे, पर वे ज़्यादातर उस हॉलनुमा बड़े कमरे में ही बनी रहतीं। वहीं उनका पानदान रखा रहता, वहीं भजन होते और वहीं हम बच्चे खेलते और वहीं वे रात को सोतीं। उस बड़े कमरे के दोनों तरफ एक-एक कमरा बना हुआ था, जिनके दरवाज़े कमरे के अंदर ही खुलते थे। उनमें से एक कमरे को वे अपने ड्रेसिंग रूम के तौर पर इस्तेमाल करती थीं। उस कमरे के ठीक सामने एक और कमरा था जो हमेशा बंद ही रहता और उसके दरवाज़े पर हमेशा एक बड़ा सा ताला लटका रहता। बहूजी बहुत कम उस कमरे में जातीं। मैंने यह नोट किया कि जब भी कोई और बैठा होता, वे उस कमरे में नहीं जातीं। ऐसा बहुत कम हुआ होगा कि मेरे अकेले या अन्य बच्चों के वहाँ खेलते वे उस कमरे में गई हों। लेकिन, जब भी वे उस कमरे में जातीं अंदर से दरवाज़ा बंद कर लेतीं और काफी समय तक कमरे में बनी रहतीं। सच कहूँ, कई बार जब वे उस कमरे में होतीं तो मैं बहुत ताकझाँक करने की कोशिश करता। एक बार तो धीरे-धीरे स्टूल खिसका कर उस पर चढ़कर मैंने दरवाज़े के सबसे ऊपर लगे शीशे में अपने दोनों हाथों की ओट बनाकर अंदर देखने की कोशिश की, पर कुछ दिखाई नहीं दिया क्योंकि वे शीशे ऐसे थे जिनमें से आर-पार कुछ दिखाई नहीं देता। यह कमरा मुझे बहुत रहस्यमय लगता क्योंकि उसमें से बाहर आते ही वे उसमें ताला लगाना नहीं भूलती थीं और चाबी अपनी अंटी में खोंस लेतीं। एक बार मैंने घर में इसका ज़िक्र किया तो दादी ने कहा – बहुत माल है इसके पास। पुराने रईस खानदान की बहू हैं, ज़रूर नोट गिनने और गहने सँभालने जाती होंगी। दादी के इस तर्क में सभी को दम नज़र आया था।

उस पूरी हवेली में ऊपर से नीचे भागते-दौड़ते, सभी का प्यार अपनी झोली में समेटते, मस्ती करते और ग़लतियों पर डाँट खाते, रूठते-मनते और खेलत-खिलाते दिन फुर्र से उड़ते रहे और एक दिन मुझे अचानक अहसास हुआ कि अब मैं बच्चा नहीं रह गया हूँ। होठों के ऊपर मूछों की हल्की रेखा उभर आई है। बात-बात पर मुझे "इतना बड़ा हो गया है" कहकर टोका जाने लगा है। मैंने महसूस किया कि मैं ही नहीं, मेरे आस-पास के सभी लोग बड़े हो रहे हैं। मेरी बहनों सहित हवेली में रहने वाले सभी बच्चे किशोरावस्था का पड़ाव पार कर रहे थे या फिर कर चुके थे। उम्र का सबसे बड़ा असर तो मेरी दादी, सबसे निचली मंज़िल पर रहने वाली भावो और बहूजी पर दिखाई देने लगा था। बहूजी के गले का मांस थोड़ा लटक आया था और चेहरे पर कुछ झुर्रियाँ भी नज़र आने लगी थीं। आँखों की रोशनी भी कम हो चली थी। हाल ही में वे दो बार अपना चश्मा बदलवा चुकी थीं। घर में भी उनका चलना-फिरना बहुत कम हो गया था। वे ज़्यादातर अपने पलंग पर पड़ी रहतीं और न जाने क्या सोचती रहतीं। मैं जब भी उनके पास जाता और उनसे उनकी उदासी का कारण पूछता तो वे हँसकर टाल जातीं और कहतीं – "कुछ नहीं बेटा, बस बढ़ती उम्र का तकाज़ा है।" मुझे लगता वे सही ही कह रही हैं। पर, उन्हें इस तरह अकेले उदास पड़ा देखकर अच्छा नहीं लगता था।

उन्हें जब किसी के सहारे की सबसे ज़्यादा ज़रूरत थी, तभी उनकी नौकरानी संतो काम छोड़कर अपने गाँव चली गई। बहूजी के लिए यह धक्का सा था। फिर भी, उन्होंने पूरी हिम्मत बटोरकर अपना काम खुद ही करना शुरू कर दिया। उनकी परेशानी शीघ्र ही उभरकर सामने आ गई। सभी उनके लिए नौकरानी ढूँढ़ने में लग गए, लेकिन इतनी जल्दी कुछ हो नहीं पा रहा था। बाद में यह तय किया गया कि उनके लिए सुबह का खाना हमारे घर से जाएगा और शाम का भावो के घर से। चाय-नाश्ता कभी हमारे तो कभी भावो के घर से पहुँचाया जाता।

उस दिन माँ ने मुझे खाना परोसते हुए कहा – "मैं आज जब बहूजी को खाना देने गई तो वे कुछ ज़्यादा ही परेशान नज़र आ रही थीं। उनकी बातों से लगा कि रात को इतने बड़े घर में अकेले रहने में उन्हें डर लगता है और वे ठीक से सो नहीं पातीं। मैं सोचती हूँ जब तक उनके लिए नौकरानी की व्यवस्था नहीं हो जाती, तू रात को उनके घर चला जाया कर। वहीं शांति से पढ़ भी लेना फिर सुबह उठकर

आ जाना।" मैंने माँ की बात तुरंत मान ली। माँ ने जब बहूजी को यह बात बताई तो उनके चेहरे पर राहत के भाव स्पष्ट उभर आए।

मैं उसी दिन से रात के खाने के बाद बहूजी के घर जाने लगा। उनके पलंग के बराबर ही मैंने अपनी खाट डाल ली। मैं कुछ देर अपनी पढ़ाई करता, वे बैठे-बैठे माला जपती रहतीं। जब मैं सोने के लिए उठता तो वे भी अपने पलंग पर आकर लेट जातीं। मैं उनका हालचाल पूछता तो वे एक उसाँस भर कर करवट बदल लेतीं और थोड़ी देर में ही सो जातीं। उन्हें बेफिक्री से सोते देखकर मुझे बहुत अच्छा लगता और फिर मैं भी गहरी नींद में सो जाता।

उस दिन बहूजी कुछ ज़्यादा ही चुप थीं। मेरी किसी भी बात का कोई जवाब नहीं दे रही थीं। माँ ने भी इस बात को नोट किया था। कहीं उनकी तबीयत तो ख़राब नहीं थी, पर पूछने पर उन्होंने इनकार कर दिया। मैं जब पढ़ रहा था तो हमेशा की तरह वे माला जपने भी नहीं बैठीं और मेरी किसी बात का जवाब दिए बिना पलंग पर जाकर सो गईं। मुझसे भी ज़्यादा नहीं पढ़ा गया और मैं भी सोने के लिए जल्दी उठ गया। बहूजी पर नज़र डाली, वे गहरी नींद में सो रही थीं। मैं अपनी खाट पर जाकर सो गया। कुछ करवटें बदलने के बाद कब नींद ने आ घेरा पता ही नहीं चला।

रात को अचानक मेरी नींद खुल गई। देखा तो बहूजी अपने पलंग पर नहीं थीं। पानी तो मैं जग में भरकर उनके सिरहाने रख दिया करता था, शायद वे बाथरूम गई हों। मैं फिर से सोने की कोशिश करने लगा। काफी देर तक बहूजी जब अपने पलंग पर नहीं लौटीं तो मुझे चिंता होने लगी और मैं उठकर बैठ गया। तभी मेरी नज़र उस कमरे के दरवाज़े के ऊपरी हिस्से में लगे शीशों से छनकर आती लाइट पर पड़ी जो हमेशा बंद रहता था। बहूजी इतनी रात गए उस कमरे में क्या कर रही होंगी? मैं तुरंत ही उस दरवाज़े तक जा पहुँचा। मुझे मालूम था वह हमेशा की तरह अंदर से बंद होगा। भय और रोमांच लिये मैं यह सोच ही रहा था कि क्या करूँ तभी अंदर से आती सिसकियों की आवाज़ ने मुझे चौंका दिया। मैंने बिना कुछ सोचे-समझे दरवाज़े को धक्का दिया तो वह खुलता चला गया। पहली बार हुआ था कि वह दरवाज़ा अंदर से बंद करना भूल गई थीं।

मैं भयमिश्रित उत्सुकता से भर उठा। बहूजी दरवाज़े की तरफ पीठ किए कोने वाली उस कुर्सी पर बैठी थीं जिसके सामने दीवार से सटाकर रखी हुई मेज़ पर उनका सिर झुका हुआ था। उन्होंने अपना सिर दोनों हाथों से कसकर पकड़ा हुआ था। रोते हुए उनका पूरा शरीर हिल रहा था। मुझे समझ नहीं आ रहा था कि कि कमरे में जाऊँ या नहीं। पर, कहीं उनकी तबीयत ख़राब हुई और उन्हें मेरी ज़रूरत हुई तो। असमंजस की स्थिति में मैंने कदम बढ़ाए ही थे कि उनकी बड़बड़ाहट सुनकर मैं रुक गया। रोते हुए बहुत धीमे स्वर में वे जो कुछ बोल रही थीं, वह रात की उस नीरवता में मुझे स्पष्ट सुनाई पड़ रहा था। वे कह रही थीं – "सब कुछ छोड़कर कैसे चली आती मैं तुम्हारे साथ हेनरी। मैं जो कुछ भी थी वह नरेन्द्र की वजह से ही तो थी। मेरे पति थे वे। उन्होंने ही मुझे इस काबिल बनाया था कि मैं ऊँची सोसाइटियों में उठ-बैठ सकूँ। उन्होंने मुझ ग़रीब को इतना प्यार दिया था कि मैं उन्हें धोखा नहीं दे सकती थी। मैं क्या करती हेनरी? मन चाहता था कि तुम्हारे साथ चल पड़ूँ, पर पैर संस्कारों की बेड़ियों से जकड़े थे। उनकी विधवा बनकर रहने में ही मुझे सच्चाई नज़र आई। तुम सात समुद्र पार चले गए, फिर भी लगता था कोई अपना है। लेकिन, अब तो तुम भी दूसरी दुनिया में चले गए हो, मैं सचमुच बहुत अकेला महसूस कर रही हूँ।" वे फूट-फूटकर रो रही थीं। मैंने ध्यान से देखा मेज़ पर कुछ पत्र फैले हुए थे और अंग्रेज़ नौजवान का फ़ोटो रखा था।

मुझे कुछ जानने-समझने की ज़रूरत नहीं रह गई थी। मैं दबे पाँव पीछे हटता हुआ बाहर निकल आया और दरवाज़े को वैसे ही भिड़ा दिया। बहूजी के बाहर आने से पहले ही मैं अपनी खाट पर आकर सो जाना चाहता था। तभी मेरी नज़र एक एयरोग्राम पर पड़ी जो दरवाज़े के पास ही पड़ा था। शायद वह अंदर से उड़कर वहाँ आ गया था। मैं उसे पढ़ने से खुद को रोक नहीं पाया। कमरे से छनकर आ रही डिम लाइट में मैं उसे बड़ी मुश्किल से पढ़ पाया। किसी टोनी रेक्सिन ने लंदन से भेजा था। पाँच लाइनों में लिखा था "लम्बी बीमारी के बाद आज हेनरी का निधन हो गया। आपकी इच्छा का सम्मान करके वह कभी भारत नहीं लौटा, पर मरते दम तक आपको याद करता रहा। मुझे ज़रूरी लगा कि उसके चले जाने की ख़बर आप तक पहुँचाऊँ। उसकी आत्मा की शांति के लिए अपने भगवान् से प्रार्थना अवश्य करना" -टोनी रेक्सिन।

मैं खाट पर आकर पड़ गया, पर न नींद आनी थी न आई। बारबार उस बंद दरवाज़े की ओर नज़रें उठ जातीं। करीब एक घंटे बाद वे बाहर निकलीं और पलंग पर आकर लेट गईं। सोचते-सोचते पता नहीं कब मेरी आँख लग गई और जब खुली तो दिन काफी चढ़ आया था। बहूजी जो रोज़ मुझसे पहले उठ जाती थीं, अभी तक सो रही थीं। रात जो कुछ घटा था, वह सपना-सा लग रहा था। मैं बहुत देर तक उनके सिरहाने खड़ा उनके निर्दोष चेहरे का भोलापन निहारता रहा। उस शांत चेहरे के पीछे अंदर की वह बेचैनी और अकेलापन छुपा था जो ठाकुर जी की सेवा, ज़ोर से गाए गए भजन और माला जपने से भी जाने वाला नहीं था। कितने जतन से बहूजी इस सबको इतने लम्बे समय से अपने तक सीमित रखे हुए थीं। मैंने तय किया कि मैं इस बारे में कभी किसी को कुछ नहीं बताऊँगा और उसे सपना समझकर भूल जाऊँगा। पर, बहूजी के लिए तो यह सब सपना नहीं था। उनकी मनोस्थिति को कोई समझ भी नहीं सकता था। मुझे पता था, वे अंदर ही अंदर घुटती रहेंगी और अपने गहरे होते अकेलेपन से लड़ती रहेंगी। इसके सिवा उनके पास और कोई चारा भी तो नहीं था।

दूसरे दिन से ही उन्हें तेज़ बुखार हो आया और उन्हें अस्पताल में भर्ती कराना पड़ा। महीना बीतते न बीतते उसी बीमारी की हालत में उन्होंने हमेशा के लिए अपनी आँखें मूँद लीं। मैं जब भी उनके बारे में सोचता हूँ तो अजीब सी बेचैनी मुझे घेर लेती है और मेरे हाथ अपने-आप उनकी आत्मा की शांति के लिए प्रार्थना में उठ जाते हैं।

000

पड़ोस

कमलेश भारतीय

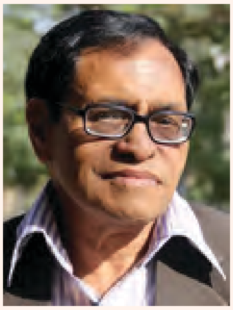

कमलेश भारतीय
1034 बी , अर्बन एस्टेट 2 , हिसार - 125005 (हरियाणा)
मोबाइल- 9416047075
ईमेल- bhartiyakamleshhsr@gmail.com

पड़ोस का मकान बिक गया। यह कोई ऐसी बड़ी बात तो नहीं पर मन बहुत उदास। क्यों? अरे यार। तुम भी। यहाँ देश का पता नहीं क्या-क्या बिक गया और तब तो विचलित नहीं हुए। पड़ोस का एक छोटा सा मकान बिक गया और रोने को हो आए? हद है। लगभग चौबीस साल पहले इस शहर में आया था ट्रांसफ़र होकर। तब किरायेदार था, फिर ख़रीद लिया यही मकान और अपने देस को छोड़ कर यहीं का होकर रह गया। परदेस को अपना देस मान इससे लगाव कर लिया, दिल लगा लिया। यह पड़ोसी अपने से लगने लगे।

पड़ोस के इस घर में दो भाई और उनके प्यारे-प्यारे बच्चे रहते थे। यों दो भाइयों की बात तो ऐसे कर रहा हूँ जैसे विभाजन के बाद भारत पाकिस्तान की बात हो। नहीं यार। इतनी दूर की उड़ान क्यों ? पर यह सच ज़रूर कि ज़माने की हवा के मुताबिक दोनों भाई अलग-अलग रहते थे। मैना सी एक प्यारी सी बच्ची घर आँगन में फुदकती और चहकती रहती। शांति और सौहार्द्र की तरह। और कभी-कभी लड़ने झगड़ने की आवाज़ें भी आतीं जैसे भारत पाक में छिटपुट लड़ाइयाँ बॉर्डर पर होती रहती हैं। यह लड़ाई माँ को रखने को लेकर होती। माँ बेचारी दोनों बेटों में बँटी रहती। ऐसी कीमती न थी कि दोनों में से कोई उसे रखने को राज़ी होता पर आँगन एक था और माँ एक थी। किसी को तो रखनी ही पड़ती। माँ बूढ़ी हो चुकी थी और चलने-फिरने से लाचार भी। वॉकर लेकर चलती और कभी-कभी हमारे आँगन में भी आ जाती, छोटी सी पोती के सहारे के साथ। अपना दुख दर्द बयान कर जाती। मुझे सँभालते नहीं, बल्कि रखना ही नहीं चाहते। क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? बोझ सी लगती हूँ दोनों बेटों को। बहुओं की चिख-चिख मुझे लेकर ही होती है। बेचारे सच्चे हैं क्योंकि छोटे-छोटे काम धंधे हैं और बच्चे हैं। ऐसे में मेरी दाल रोटी भी भारी लगे तो क्यों न लगे? वैसे मैं स्वेटर बुन लेती हूँ। आप बुनवा लो तो कुछ मेरी रोटी भारी न लगे। खैर। हम भी अपनी माँ खो चुके थे। परदेस में वह माँ जैसी लगने लगी और ज़रूरत न होते हुए भी कुछ स्वेटर बनवा लिए। जब वे मेरा नाप देखने को अधबुना स्वेटर छाती से लगातीं तो लगता कि माँ ने गले से लगा लिया हो। मेरी माँ भी वैसे क्रोशिया बुन लेती थीं और सौगात में बना-बना कर ऐसी चीज़ें देती रहती थीं। वैसे हमारे घर की कहानी भी इससे अलग कहाँ थी ? हम तीन भाई थे और माँ किसके पास रहे, यह समस्या रहती थी। तीनों अलग-अलग शहरों में और दूर-दूर। माँ की समस्या यह कि वे अपना पुश्तैनी घर छोड़ने को तैयार नहीं थीं। वे जब मेरे पास आतीं तो ये दोनों माँएँ अपने-अपने बच्चों के व्यवहार पर खूब बतियातीं। जब मेरी माँ इस दुनिया में नहीं रही तब पड़ोस वाली माँ बहुत प्यारी और अपनी सी लगने लगी।

खैर! पड़ोस के दोनों बेटे छोटे-छोटे काम धंधे करते और कभी बेरोज़गारी भी काटते और फिर कहीं नए काम पर लग जाते। सुबह सवेरे शेव करते समय दोनों घरों के साथ लगती छोटी सी दीवार पर शीशा टिका एक बेटा जब शेव करने लगता तो बातचीत भी हो जाती और वह कुछ न कुछ नई जानकारियाँ देता रहता। कैसे महँगाई डायन उन्हें डरा रही थी। बच्चे धीरे-धीरे बड़े हो रहे थे। ज़्यादा पढ़ाने की हिम्मत न थी। फिर भी लड़की को पढ़ा रहे थे ताकि उसे ठीक से घरबार मिले। कभी किसी आसपास के शहर में भी काम करने जाते। ऐसे में एक बेटा बीमार हुआ और बड़े अस्पताल में भर्ती किया गया। सुबह वही शेव करने के समय पर मुलाकात न होने पर पता चला। हम पति-पत्नी ने पड़ोसी का फर्ज़ निभाते शाम को अस्पताल जाकर खोज ख़बर लेने की सोची। गए भी और यह भी सोचा कि कुछ मदद की जाए। हमने दबी ज़ुबान से कही यह बात उनकी पत्नी को लेकिन इतनी स्वाभिमानी कि मदद मंज़ूर ही नहीं की। यहाँ तक कह दिया कि जब ठीक हो जाएँ और लौटा सको तो लौटा देना, फिलहाल रख लो। वह ख़ुद्दार स्त्री नहीं मानी तो हमारे मन में उसके प्रति इज़्ज़त और बढ़ गई। इंसान पैसे की कमी से भी टूटता नहीं। यह ख़ुद्दारी बहुत खुश कर गई। उस ख़ुद्दार औरत का नाम गुड्डी था। वह जिस भी हाल में थी, उसी में खुश रहती। जैसा भी पुराना घर था, उसे साफ-सुथरा रखती। सुबह सवेरे उठकर बुहारती और आँगन धो लेती। एक छोटी सी क्यारी में लगाए फूल पौधों को पानी देती। फिर पति के काम पर चले जाने के बाद सिलाई मशीन चलाती रहती ताकि कुछ पैसे कमा सके।

कुछ घर छोड़कर जब एक ठीक-ठाक से घर की महिला ने क्रैच खोला तो गुड्डी को सहायिका की जगह रख लिया। इस तरह गुड्डी के सिलाई मशीन चलाने की आवाज़ कम हो गई।

लगभग एक साल तक क्रैच में रहने के बाद गुड्डी ऊब गई या सारी बारीकी समझ गई और उसने वहाँ काम छोड़ दिया। इधर हमारे घर एक काम वाली आई तो उसकी नन्हीं सी बच्ची कहाँ रहे? सो गुड्डी ने मौके पर चौका मारा और उस बच्ची को सँभालने का ज़िम्मा ले लिया यानी अपना क्रैच खोलने का सपना देखा। कुछ माह वही इकलौती बच्ची उसके क्रैच की शान बनी रही। गुड्डी उसे कागज़ पर लिखना-पढ़ना भी सिखाती। कुछ माह बाद जब वह कामवाली हमारा काम छोड़ गई तो गुड्डी का क्रैच भी बंद हो गया और उसकी सिलाई मशीन फिर चलने लगी।

अपने क्रैच का सपना टूटने के बाद गुड्डी ने एक और काम करने की सोची। जैसे उसके घर के सामने वाली खट्टर आंटी किट्टी के बहाने कमेटी निकालती थी और इन दिनों उसने वह काम बंद कर रखा था। इसी काम को गुड्डी ने शुरू करने का फ़ैसला लिया और बाकायदा एक छोटी-सी मीटिंग आस-पास के घरों की महिलाओं की बुलाई अपने छोटे से आँगन में। सभी आईं और वह महिला भी आई जो इस काम को छोड़ चुकी थी। फ़ैसला हो गया कि कमेटी चलेगी पर गुड्डी अपनी औक़ात जानती थी। इसलिए किट्टी नहीं होगी। चाय का प्याला ज़रूर अपनी ओर से पिला देने का वादा किया जिसे सबने खुशी-खुशी मान लिया।

इस तरह मुश्किल से दो माह गुज़रे होंगे कि कमेटी और किट्टी का एकसाथ काम छोड़ चुकी तजुर्बेकार महिला ने अपना हिस्सा वापस माँग लिया। गुड्डी ने पूछा तो कहने लगी -मज़ा कोई नहीं। न कोई गेम, न खाना-पीना। फिर क्या करना इस किट्टी और कमेटी का ? इस तरह उस औरत ने गुड्डी की छोटी सी कोशिश को तारपीडो कर दिया। बड़ी मुश्किल से बाकी महिलाओं को मना कर गुड्डी ने एक साल निकाला और फिर इस काम से भी तौबा कर ली। क्या पड़ोस इतनी मदद भी न कर सका कि एक छोटा सा सपना पूरा कर लेने देता ? सोचता रहा पर मेरे सोचने से क्या होता ? छोटे आदमी के सपने बड़े लोग अक्सर तोड़ देते हैं। गुड्डी ने फिर सिलाई मशीन के साथ अपना सफर शुरू किया।

स्वच्छता अभियान को लेकर आस-पड़ोस बड़ा फिक्रमंद रहता। यानी ज़रा सा कूड़ा -कचरा देखा नहीं तो हाय तौबा शुरू हो जाती। सब ऐसे ज़ाहिर करते जैसे उनसे बेहतर कोई स्वच्छता प्रेमी नहीं। फिर भी गुड्ढी के घर की दीवार के आसपास कूड़े के ढेर लगे रहते। बेचारी कुछ दिन बर्दाश्त करती रही। आख़िर संकोच छोड़ सामने आई और उसने दीवार पर लिख कर लगा दिया -यहाँ कूड़ा फेंकना मना है। अब बताओ अपने समाज में कौन परवाह करता है ऐसे नोटिसों की ? यहाँ तो कितने नोटिस अपना ही मज़ाक उड़ाते दिखते हैं। सो वही हश्र गुड्डी के नोटिस का हुआ। इस पर गुड्डी ने कमर कसी और नज़र रखने लगी कि कौन कूड़ा फेंकने आता है चोरी-चोरी। हंगामा कर दिया मासूम सी दिखने वाली गुड्डी ने। ज़रा लिहाज नहीं किया किसी का और इस तरह गुड्डी ने साबित किया कि चाहे छोटे वर्ग के लोग हों वे अपने हक की लड़ाई लड़ सकते हैं। यह गुड्डी का एक नया चेहरा सामने आया था।

समय बीतता गया। पड़ोस के परिवार के बच्चे बड़े होने लगे और अपने बड़ों की तरह घर के हालात देख कर पढ़ाई छोड़ कर दुकानों पर सेल्समेन लग गए। गुड्डी का बेटा अभी छोटा था और वह हमारे दोहिते की उम्र का था। दोनों में दोस्ती हो गई। हमारा दोहिता और वह एक दूसरे के फैन बन गए। न उसे कुछ सुहाता अपने दोस्त के बिना और न हमारे दोहिते को कुछ अच्छा लगता अपने दोस्त के बिना। वे ड्राइंग रूम में बैठे कैरम बोर्ड खेलते रहते और उनकी हँसी सारे घर में खुशबू की तरह फैलती रहती।

दीवाली आई तो कुछ दिन पहले से हमारा दोहिता अपनी माँ के पीछे पड़ा रहता कि पटाखे लेकर दो। बेटी उसे लेकर बाज़ार जाती और पटाखे ला देती। अब दोहिते को तो साथ चाहिए था पड़ोस वाले दोस्त का। वह सकुचाता हुआ आता और चला जाता। पटाखे छोड़ने में कोई उत्साह न दिखाता। तब दोहिते ने पूछ ही लिया-"नितिन। क्या बात है तुम्हें पटाखे फोड़ने की खुशी नहीं होती?"

"होती है पर मेरे पास पैसे नहीं कि खरीद सकूँ। दूसरे के पैसे के पटाखे छोड़ने में कैसी खुशी?"

यह बात दोहिते आर्यन ने अपनी माँ को बताई और कहा-"मम्मी, आप नितिन को भी पटाखे ले दो न।"

सच। इस बात से जो पड़ोस के बीच एक आर्थिक खाई थी उसे दोहिते व नितिन की दोस्ती ने उजागर कर दिया। सबसे बड़ी बात कि दीवाली पर नितिन घर से ही नहीं निकला। आख़िर गुड्डी के जेठ और पति ने यह मकान बेचने का फैसला कर लिया। निकलते-निकलते बात मुझ तक आई। मैं गुड्डी के पति से मिला और पूछा कि क्या बात हुई? हमारा पड़ोस या यह मुहल्ला अच्छा नहीं रहा?

"नहीं। ऐसी कोई बात नहीं।"

"फिर?"

"हमारे बच्चे बड़े हो रहे हैं। बेटी तो ब्याह दी, लेकिन बेटों की शादियों के बाद इस छोटे से घर में बहुएँ रहेंगी कहाँ?"

"अरे तो बनवा लेना एक दो कमरे।"

"नहीं जी। इतनी हिम्मत कहाँ? मुश्किल से दाल-रोटी चला रहे हैं। यह क्या कम है।"

"मकान बेच दोगे तो किराया कहाँ से भर दोगे ?"

"जी नहीं। मकान इस एरिये में महँगा बिकेगा क्योंकि पॉश और शरीफों का एरिया है। हम किसी बस्ती में कम पैसों में अपने-अपने नए बड़े मकान ले लेंगे।"

मैं एकदम चौंका। और सहज ही किसान से मज़दूर बन जाने की नौबत कैसे आती है, यह बात समझ आई। ये लोग बच्चों के भविष्य की ख़ातिर एक पॉश एरिये को छोड़ कर किसी छोटी सी बस्ती में रहने चले गए। जहाँ अगली पीढ़ी का क्या होगा ? कौन सोचता है... मैं खाली मकान के लिए दो बूँद आँसुओं से जैसे श्रद्धांजलि अर्पित कर रहा हूँ।

000

कथा-कहानी

अदृश्य डोरियाँ

डॉ.गरिमा संजय दुबे

"माँ आपने साड़ी निकाल ली, छोटी मौसी के यहाँ जा रही हो ना ?" अनुभा ने अपनी सास की साड़ी देख पूछा।

अणिमा जी ने सहजता से उत्तर दिया, "हाँ"।

"मँझली मौसी भी साथ जा रहीं होंगी फिर तो" ?

वे उसी सहजता से बोलीं, "हाँ हमेशा साथ ही तो जाते हैं।"

दोनों एक दूसरे की तरफ देख कर मुस्कराईं, उस मुस्कराहट का अर्थ दोनों ही भली भाँति समझती हैं।

"माँ लेकिन आप हमेशा इतने कम गहनों और सादे कपड़ों में ही क्यों जाती हो, छोटी मौसी के यहाँ, मँझली मौसी तो देखो कैसे पूरे शबाब को जैसे इसी दिन के लिए सहेज कर रखती हैं, पूरी सज-धज के साथ, एक आप हैं।" अनुभा ने कहा।

"जैसी हमेशा रहती हूँ वैसी ही जाती हूँ, फिर किसी प्रदर्शन के लिए थोड़ी जाते हैं, अपनों से मिलने जाते हैं।" उन्होंने उसी सहजता से कहा।

एक ही शहर में तीन बहनें ब्याही, बड़ी अणिमा, मँझली महिमा, और छोटी प्रतिमा, पिता चाहते थे कि सिद्धियों पर नाम रखें लेकिन तीसरी बेटी हुई, तो सोचा आठ का सिलसिला न हो यह, अष्ट सिद्धियों को सँभालना मुश्किल होगा एक मध्यम वर्गीय पिता के लिए तो तीसरी का नाम रख दिया प्रतिमा, वह प्रतिमा सी स्थिर चित्त की भी रही।

दोनों बड़ी बहनों ने माता-पिता की इच्छा से व्यवसाई परिवारों में ब्याह किया, छोटी सबसे सुंदरी बहन जाने किस मिट्टी की बनी थी, दर्शन शास्त्र पढ़ते-पढ़ते एक प्रोफ़ेसर से दिल लगा बैठी, दोनों एक से आदर्शवादी सादा जीवन उच्च विचार वाले। अच्छा-ख़ासा जीवन चल रहा था उनका, हालाँकि घर के बड़े होने से दो भाई और एक बहन की ज़िम्मेदारी, माता-पिता की सेवा

डॉ. गरिमा संजय दुबे
18 बी, वंदना नगर एक्स्टेंशन, इंदौर
मप्र 452018
मोबाइल- 9009046734
ईमेल- garima.dubey108@gmail.com

स्वयं के परिवार का भार उनपर था। उन्होंने कब इसे भार समझा दोनों पूरी निष्ठा से निभाते रहे, लेकिन पिछले दिनों भाई ने हिस्सा भी माँग लिया और उधार लिए लाखों रुपये भी देने से इंकार कर दिया, तो थोड़ी मुसीबत में आ गए थे।

लेकिन जितना अणिमा जानती हैं कि उनकी छोटी बहन और दामाद कभी अभाव का रोना नहीं रोते, उनकी सादगी, सहजता बहुत आकर्षित करती है।

मँझली का छोटी से सदा डाह रहता, बचपन से उसकी बनावटी बातें, प्रदर्शन प्रियता बड़बोला पन, छोटी के आगे चलता रहता। छोटी, जो घर में सबसे छोटी होने पर भी सयानी थी, यूँ शरारती वह भी कम नहीं लेकिन उसको अपनी ज़बान से ज़्यादा काम से जवाब देने की आदत रही। वह पिताजी पर गई थी शांत, सादगी पसंद, लेकिन उसकी सादगी में भी वह सब पर भारी पड़ती। सादगी का अपना सौंदर्य होता है बस यही बात उस पर लागू होती, लेकिन मँझली उसके विपरीत, और जब अमीर परिवार में ब्याह हो गया तो उसे मुँह माँगी मुराद मिल गई। वह अपने वैभव की चमक से छोटी को सदा नीचा दिखाने की कोशिश करती। पैसे ने सौन्दर्य उभार दिया था और अहंकार भी आ ही गया थोड़ा उसमें।

लेकिन छोटी पर कब इन बाहरी आडंबरों का प्रभाव पड़ा है भला, वह मुस्कराती हुई, शांति से उसकी चपल हरकतें देखा करती। और जब मँझली के किसी आडंबर से न तो वह न उसका परिवार प्रभावित होता, तो वहाँ से आने के बाद खीजती कि किसी ने उसके महँगे पर्स की, साड़ी की, हीरे के ज़ेवरों का पूछा तक नहीं, "सब जलते हैं मुझसे, मेरे रूप, सौन्दर्य, धन, कपड़ों से"।

नादान को कौन समझाए कि केवल बाहरी दिखावे से हर कोई प्रभावित नहीं होता, जिन्हें आपसे मतलब है वह आपके कपड़े, गहनों, गाड़ी से क्या करेगा। आख़िर महत्त्व इंसान का है या चीज़ों का? ख़ैर गाड़ी के हॉर्न की आवाज़ से वह विचारों से बाहर आई, मँझली लपकती हुई अंदर आई, बोली "अनुभा, नई गाड़ी ली है देखो जब चाहो

चलाने के लिए ले सकती हो।" बड़े अहंकार से भर कर बोली। अणिमा को न जाने क्यों उनकी यह बहन कई डोरियों से घिरी हुई दिखती, कठपुतली की तरह उसे कोई और नचाता हो जैसे, अभी-अभी उन्होंने उसे अहंकार और दिखावे की डोरियों से संचालित होते पाया।

अनुभा किचन से बोली, "जी मौसी जी।" और मुस्करा दी। गहरी लिपस्टिक, महँगे कपड़े, हीरे के इयरिंग, और पूरी तैयारी से आई थी वह। अणिमा ने किचन में जा धीरे से अनुभा को कहा, "उसकी, उसके कपड़े, रंग, गाड़ी की तारीफ कर देना, नहीं तो शाम तक बीमार हो जाएगी, तुम्हें पता है ना तारीफ जीवी है वह।"

अनुभा ने कहा, "केवल तारीफ जीवी ही नहीं, ईर्ष्या जीवी भी", वे उसे धीरे बोलने का इशारा कर चाय की ट्रे बाहर ले आईं।

"लो चाय बना के रखी थी", वह चाय का कप हाथ में ले बोली, "पता है जीजी मेरी देवरानी ने भी मेरे जैसे हेयर कलर करवा लिए मुझे देख के, इतना जलती है मुझसे।"

अणिमा ने कहा, "अरे आजकल तो सभी करवाते हैं।"

मँझली को इस उत्तर की उम्मीद नहीं थी, "अरे लेकिन मेरे बाल देखने के बाद करवाए।"

"अच्छा तब तो जलती ही होगी।" अणिमा ने हथियार डालते हुए कहा। ईर्ष्या और आत्म मुग्धता की डोरियाँ दिखने लगीं उन्हें।

"और क्या।" वह मुँह बनाते हुए बोली।

जिसकी आँखों पर रज गुण का बहुत भारी पर्दा पड़ा हो, उससे कौन कहे कि दुनिया के पास केवल एक ही काम नहीं रह गया है उसे देखने, उससे जलने का।

दोनों ने चाय पी, अनुभा ने अंदर आते हुए बहुत नाटकीय भाव भंगिमा में पूरा मुँह खोल दोनों हाथ गाल पर टिका आश्चर्य करते हुए बोला, "हाय मौसीजी, क्या बात है, कितनी सुंदर, प्यारी, लग रही हो, क्या कलर है, मैचिंग लिपस्टिक में तो ग़ज़ब ढा रही हो, कैसे इतना मेंटेन कर लेती हो, लगता ही नहीं दादी बन गई हो, क्या च्वॉईस है आपकी, हाय प्यारी सुंदरी मौसी जी।" कहते हुए वह उनसे लिपट गई।

अणिमा ने आँखों ही आँख़ों में अनुभा को कहा, "इतनी ओवर एक्टिंग करने को नहीं कहा था।"

लेकिन प्यासी आत्मा को जैसे अमृत मिल गया, इतनी देर से प्रतिक्षा कर रही थी कि कोई उनकी शान में कसीदे पढ़े, दीदी तो सदा की तरह अच्छी लग रही हो, कहकर चुप हो गई थी। तारीफ सुन चेहरा चमक उठा। प्यार से अनुभा को भी चूम कर बोली, "ले ले तेरे ऊपर भी जँचेगी"। बनावट और झूठी तारीफ की डोरियों से बँधी वह इठलाती दिखी।

ख़ैर वे दोनों चलीं, छोटी को फ़ोन कर दिया था तो छोटी और उनकी बेटी ने मिलकर आलूबड़े का घोल और गाजर का हलवा बना लिया था। बेसन घोल छोटी बैठी ही थी कि गाड़ी रुकी, दौड़ती हुई बाहर आई, हल्के निम्बू रंग की शिफॉन की साड़ी पर बस दो छोटे मोती के बुंदे और गले में एक सोने की चेन में भी किसी अप्सरा से कम नहीं लग रही थी। उसके सात्विक सौंदर्य के आगे जाने कैसे मँझली का भरा-भरा, अतिरेकी श्रृंगार सदा फीका रहता। उसकी सादगी तेजस्विता जैसे उसके पूरे प्रयास पर पानी फेर देती, लेकिन जैसी कि आदत है बहुत लाउड होते हुए, "अरे मेरी प्यारी छोटी बहन कैसी है तू" कहते हुए बड़ी अदा से उसके गले लग उसे प्यार जताया। छोटी और बड़ी बख़ूबी जानतीं कि दो मिनट पहले जिसकी बुराई कर रही हो, उसके

सामने आ जाने पर ऐसे हुलस कर उसे प्रेम जताती हैं कि कोई सोच भी नहीं सकता कि उनके मन में असल भाव क्या है। हाथ पकड़ उसे अंदर ले जाते हुए अपने जीजा से बोली, "क्यों अपूर्व जी हमारी बहन कितनी दुबला गई है, आप उसका ध्यान नहीं रखते क्या?" अतिरेक की डोरियाँ नज़र आ रही थीं अणिमा को।

अपूर्व ने हँसते हुए कहा, "अरे जो फिगर पाने के लिए दिन रात जिम में पसीना बहाना पड़े, वह आपकी बहन को ऐसे ही मिल जाता है, मुझे शाबाशी दीजिए।"

हल्का सा मुस्करा कर घर की तरफ नज़र दौड़ाई, सादा-सा घर लेकिन फिर भी कितनी शांति, उसे अपनी भव्यता हर बार यहाँ आकर पराजित होती लगती।

बड़ी दीदी ने बात सँभाली, "क्या अपूर्व जी, भाई ने रंग दिखाया।"

दोनों बिना शिकन लाये बोले, "हिस्सा कभी न कभी तो देना था, दे दिया।" उस बात को हवा में उड़ाते हुए वे बोले।

मँझली हैरान थी उसके यहाँ परेशानी होने पर कैसे बवाल होता है, सब अलग हैं लेकिन मन मुटाव सबके साथ, पैसा इतना लेकिन पति ज़रा से नुकसान पर सारी दुनिया को दोष देने लगते हैं। और यहाँ देखो चहकते बच्चे, बुज़ुर्ग, और दोनों पति-पत्नी। कमी यहाँ भी किसी चीज़ की नहीं लेकिन सादा जीवन, कोई दिखावा नहीं, कोई बनावट नहीं, सरलता सहजता।

वह लगातार बोलती रहती है, सब मुस्कराते हुए उसकी बात सुनते रहते हैं, बड़ी दीदी और छोटी बहन मंद स्मित और शांति से अपनी बात करती, खाते-पीते, और मुलाकात संपन्न होती, छोटी की स्थिरता, सादगी और शांति सदा उसके लिए चुनौती साबित होती। उसका बनाव श्रृंगार उसे एक कृत्रिमता दे देता, वहाँ से आने के बाद वह रुँआसी होती, लेकिन फिर खो जाती अपनी भौतिकता वादी दुनिया में।

आज गाड़ी से लौटते हुए वह चुप थी, लेकिन चुप होना शांत होना ही तो नहीं होता, बड़ी दीदी जानती थी कि चुप है, मतलब भीतर

बहुत शोर है।

अचानक मँझली ने कहा, "दीदी मुझे आपसे कुछ बात करनी है।"

ड्राइवर को गाड़ी रोकने का बोल दोनों एक कॉफ़ी हाउस में रुक गए। कॉफी हाउस में हमेशा की तरह एक कठपुतली का कार्यक्रम चल रहा था।

कॉफी पीते-पीते कई फ़ोन आए मँझली के। एक को जवाब दिया "पार्टी में ऐसी एंट्री करूँगी कि सब देखते रह जाएँगे, लेटेस्ट डिज़ाइन करवाया है सूट, और गहने भी, सबसे अलग, देखना जल भुन जाएँगी सब"। फिर डोरियों से संचालित दिखी बहन उन्हें।

दूसरा फ़ोन "अरे नहीं वो मिसेज़ पॉल है न सबके बीच कह देती हैं, ये वही ड्रेस है न जो तुमने उस कार्यक्रम में पहनी थी, इसलिए बाबा, नया ही लूँगी।" मिसेज़ पॉल रूपी डोरी से नियंत्रित होती बहन।

तीसरा फ़ोन "अरे, वह तो कपड़े बार-बार रिपीट करती है, कंजूस कहीं की, अरे सादगी वादगी माय फुट, कंजूस है या होगा नहीं इतना, अब समाज के हिसाब से थोड़ा तो स्टेटस मेंटेन करना पड़ता है, भाई मुझे तो नया ही लेना है।" सोसाइटी, स्टेटस की डोरियाँ, जो केवल वस्तुओं से इंसान को आँकें वैसे समाज की डोरियाँ। कितनी डोरियों में उलझी है उनकी बहन, कोई स्वतंत्र अस्तित्व, आत्मविश्वास नहीं, सब कुछ वस्तुओं पर निर्भर।

कॉफी पीते-पीते मँझली बोली "देखो दीदी यह कठपुतली का खेल मुझे हमेशा अनोखा लगता है, कैसे नचाता है डोरियों से उँगली के इशारे पर कठपुतली वाला।"

अणिमा जी बोल उठीं, " केवल कठपुतलियाँ ही डोरियों के नियंत्रण में नहीं रहती, हम इंसान भी जाने अनजाने कितनी ही डोरियों को दूसरे के हाथ में थमा कर उनके अधीन हो जाते हैं कभी इंसान, कभी आदत, कभी समाज।" कहते हुए उन्होंने अर्थपूर्ण ढंग से बहन को देखा और कठपुतलियों की तरफ देखने लगीं।

जाने क्या था उन नज़रों में कि मँझली सह नहीं पाई और कठपुतली को देखने लगी, अचानक उसे लगा वहाँ कठपुतली नहीं है वह स्वयं है, कई अदृश्य डोरियों से संचालित होती हुई। दिखावा, बनावट, ईर्ष्या, मिसेज़ पॉल, आत्म मुग्धता, आत्म प्रशंसा, दूसरों की खिल्ली उड़ाने का भाव, सबसे श्रेष्ठ होने का अहंकार, पराधीन सुख, और भी न जाने कितनी अदृश्य डोरियाँ थीं, जो उसे स्पष्ट दिख रही थीं। वह देख रही थी लेकिन इन डोरियों को काटने के लिए जिस नैतिक साहस, आत्म विश्वास और सहजता की कैंची चाहिए वह ढूँढ़े से नहीं मिल रही थी।

000

लेखकों से अनुरोध

सभी सम्माननीय लेखकों से संपादक मंडल का विनम्र अनुरोध है कि पत्रिका में प्रकाशन हेतु केवल अपनी मौलिक एवं अप्रकाशित रचनाएँ ही भेजें। वह रचनाएँ जो सोशल मीडिया के किसी मंच जैसे फ़ेसबुक, व्हाट्सएप आदि पर प्रकाशित हो चुकी हैं, उन्हें पत्रिका में प्रकाशन हेतु नहीं भेजें। इस प्रकार की रचनाओं को हम प्रकाशित नहीं करेंगे। साथ ही यह भी देखा गया है कि कुछ रचनाकार अपनी पूर्व में अन्य किसी पत्रिका में प्रकाशित रचनाएँ भी विभोम-स्वर में प्रकाशन के लिए भेज रहे हैं, इस प्रकार की रचनाएँ न भेजें। अपनी मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाएँ ही पत्रिका में प्रकाशन के लिए भेजें। आपका सहयोग हमें पत्रिका को और बेहतर बनाने में मदद करेगा, धन्यवाद।

-सादर संपादक मंडल

भैड़ी औरत

डॉ.मंजु शर्मा

डॉ.मंजु शर्मा
सहायक आचार्य एवं विभागाध्यक्ष - हिन्दी-विभाग राजकीय लोहिया महाविद्यालय, चूरू (राजस्थान)
ईमेल- manjudinesh.8@gmail.com

कॉफ़ी की ख़ुशबू और बारिश की बूँदें उषा के मन को रोमांचित कर देती है आज छुट्टी है और वह बाहर घूमने जाएगी अपनी फ्लैटमेट के साथ। इसी थ्रिल के साथ उसने वेदांशी की तरफ़ कॉफ़ी मग बढ़ा दिया-"ले पी कितना ख़ुशनुमा मौसम हो गया।"

"मौसम तो ख़ुशनुमा हो रहा है पर इधर तो स्यापा पड़ गया, मम्मी के फ़ोन ने सब कबाड़ा कर दिया... यार गुड़गाँव में इसलिए फ्लैट लेकर तेरे साथ रह रही हूँ कि घर के झंझटों से छुटकारा मिले पर नहीं साहब हमारे माताजी-पिताजी हमें जीने थोड़े ही देंगे। अब घण्टे भर में निकलना ही होगा जीजू और डोली दी भी पहुँच रहे हैं...उफ़्फ़ सन्डे ख़राब कर दिया।"

"ले कॉफ़ी तो पी, क्या बात हुई, आंटी ने क्या कहा? कोई चिंता की बात तो नहीं?" कहते हुए उषा ने उसे मग थमा दिया।

"यार दिल्ली में घर होने का यह नुकसान है हर छोटी सी बात पर पेरेंट्स घर बुला लेते हैं। अब जॉब के लिए रोज़ाना पीरागढ़ी से गुड़गाँव नहीं आया जाता फिर जाकर दो बुड्ढों की खिचखिच सुनो, झगड़े निपटाओ... उषा तू तो एंवें ही घर के पास जाने की रट लगाए रखती है। तू राजस्थान जाकर क्या करेगी, दूर है तो बची हुई है इन पंगों से, मैं तो शादी भी दिल्ली से दूर करूँगी।" माथे पर शिकन डाले वेदांशी बोले ही जा रही थी।

"हुआ क्या पर? कुछ बताएगी भी?"

"क्या बताऊँ यार एक तो इस नोटबन्दी ने सरदर्द करके रखा है, घर में भूचाल आया हुआ है।"

"हैं? नोटबन्दी? भाई हुआ क्या है? अंकल जी के पास बहुत माल है क्या?" कहकर उषा ने उसके कंधे पर हाथ रख लिया।

"पापा के पास नहीं यार मम्मी के पास पड़े हैं चार लाख, उनका ही स्यापा लिए बैठे हैं दोनों।"

"ओह! पर यार आंटी भी गवर्नमेंट ऑफ़िसर हैं तो व्हाइट मनी ही होगी उनकी , फिर यह चार लाख का क्या मसला है?"

घर जाने की तैयारी करती हुई वह कुछ पल कुर्सी खींचकर उस पर धँस गई। उसे लगता है मम्मी-पापा को लड़ने का भी चाय जैसा ही चस्का लग गया, इनको कोई नहीं चाहिए ख़ुद ही लड़ लेते हैं।

"उषा यार इनके फितूर है आपणा ही नक, ते अपणी ही छुरी...क्या हो गया जो मम्मी के पास चार लाख मिल गए? पापा को क्या पता मम्मी ने कट्ठे करके रखे हैं जनानियों के पास क्या पैसे नहीं होंगे? कंजकों के पैसे, पैर छूने के पैसे, लेन-देन के पैसे,मम्मी की कमेटी वाली फ्रेंड्स से मिलते रहते हैं और भी कितना मिलता रहता है रिश्तेदारों से...औरतों का धन तो इन्हीं रिश्तों में होता है, ये ही इनके बैंक हैं।"

"पर वेदांशी यार चार लाख बहुत ज़्यादा बड़ी रक़म नहीं है?"

"एल्लो कर लो बात यार हमारे पंजाबियों में न देने-लेने का बड़ा रिवाज़ है तू माइंड मत

करना यार तुम राजस्थानियों की तरह ग़रीब नहीं होते ,पैर छू के सौ-पचास नी देते...यार बुरा मत मानना तेरी मासी तुझसे मिलने आई और सौ रुपये दे गई...तेरे कज़िन कुछ नी दे के गए एक डिब्बा रसगुल्ले पकड़ा गए। हमारे में ऐसा नहीं होता।"

उषा को उसकी बातें चुभी पर उसके चेहरे के नाराज़गी के भाव पानी में नमन की तरह घुल गए। मन तो खारा हो गया...पर वेदांशी है ही ऐसी ख़ुद के परिवार को भी कुछ भी बोलती है। तो उसकी बात का क्या बुरा माने वो...पलभर में कड़वाहट को भुलाकर वह वेदांशी की अटपटी सी बातें सुनने लगी जो बातें उसे किसी दूसरे लोक की सी लगती थी, जहाँ बड़े-छोटे सब गालियाँ बोलने में नहीं हिचकते...अपनी-अपनी आज़ाद ज़िन्दगी में भी आपस में गुँथे हुए से अजीब लोग हैं ये।

"उषा यार तू नाराज़ तो नहीं हुई न मेरा लहजा थोड़ा रूढ़ है, दिल्ली के पंजाबी तेज़तर्रार होते हैं। देख मैं सच कह रही हूँ हमारे में ना पैसे, गिफ़्ट और शो-शा बोत चलता है। मम्मी की कमेटी वाली फ्रेंड्स हैं ना वे बहनों की तरह हैं उनके माँ-बाप भी खूब देते हैं। उनकी छोड़ यार मेरे तायाजी तो बड़े कमीने हैं, हमारी उनसे बनती भी नहीं पर वह भी त्योहारों पर मम्मी को पाँच-दस हज़ार से कम नहीं देते। मेरे नाना-नानी, मामा सब ख़ूब देते हैं। फिर बेटियों की माँ को तो गाँठ में पैसा चाहिए।"

"हाँ यूँ तो मेरी मम्मी भी पैसा बचाकर रखती ही है यार, थोड़ा-बहुत पैसा तो औरतों को रखना ही पड़ता है, न जाने कोई ज़रूरत आन पड़े, कोई मेहमान ही आ जाए।' कहकर उषा ने माहौल को थोड़ा हल्का बनाने की कोशिश की पर वेदांशी ने बात का सिरा जहाँ से छोड़ा था वहीं से फिर पकड़ लिया "यार उषा मेरे पापा ने ग़दर मचा लेना है अब तो, एक बार किसी की ग़लती नज़र आ जाए फिर तो उसकी ख़ैर नहीं। मेरे पापा कैरी आँखों वाले हैं, कैरी आँखें समझती है न? भूरी, ग्रे मिक्स सी। कतल कर दें ऐसे तेज़ हैं। तीसरे माले की छत से गली में खेलते बच्चों की बॉल देख लेते हैं... हाय अब क्या होगा?" उषा ने बीच में ही कहा "किसी जानकार की हेल्प क्यों नहीं लेतीं आंटी?"

"उसी से पंगा हुआ है यार, मम्मी ने जीजू से पूछा तो उन्होंने मना कर दिया। दी की सास को शक हो गया मम्मी और जीजू की बातें सुनकर, अब क्या था उस कमीनी ने झट से पापा को फ़ोन करके कहा 'भाईसाहब समधन के पास कहीं पुराने नोटों की गड्डियाँ न दबी हों, ज़रा टटोल लेना।"

ओह्ह! उषा ने गहरी साँस लेते हुए कहा "तो दी की सास ने आग लगाई है, कैसी अजीब बात है, स्त्री की कमज़ोरी पुरुष को पता चलती है तो वह उस पर हावी हो जाता है और स्त्री की कमज़ोरी अगर दूसरी स्त्री को चलती है तो वह उसके मार्ग को दुर्गम बना देगी।"

"और नहीं तो क्या? वैसे उस औरत से पापा भी हेट करते हैं पर उसके सामने बोल नहीं पाते, बेटी जो दी है। यार उस चन्डाली, भूतनी का फ़ोन आया तो पापा ने कहा "समधन जी मैं तो वी आर एस ले चुका कबका ही, शशि की तनख्वाह भी व्हाइट में है तो जी हमारे पास कोई पैसा नहीं" पर उषा उस कुतिया को देख शक का बीज डाल ही दिया, फ़ोन रखते वक़्त बोली -"हम जनानियों के पास बहुत होता है जी, हम तो इक्क परिवार हैं जी सोचा बता दूँ, ज़रा टटोल लेना जी।"

वेदांशी को इस वक़्त डॉली दी की सास पर बहुत गुस्सा आ रहा था। सामने होती तो वह नोंच ही डालती बुढ़िया को।

"तुझे पता है उषा वह थत्थी है, मतलब जावेद अख़्तर की तरह 'त' को 'थ' बोलती है और बोलते वक्त थूक-थूक कर सामने वाले को नहला देती है...मन तो करता है बुढ़िया की न जीभ काटकर कुंडे से लटका दूँ, आते-जाते सब पीटें, हमारे घर में पंगे डाल दिये।"

उषा ने उसे शांत करते हुए कहा "सब ठीक होगा, टेंशन मत ले।"

"यार सोचकर भी घबराहट हो रही है। पापा ने सारी अलमारियों में ढूँढ़े, फिर सूटकेस में मिली गड्डियाँ चार लाख की, यार मेरे पापा को जब गुस्सा चढ़ता है तो आदमी को छत से गिरा दें गमला समझकर। मम्मी को तो तब से एंग्ज़ाइटी अटैक पड़ा हुआ है, बीपी चढ़ गया। अब चार लाख लेके मरे भी कहाँ पे?"

"चल तू चिंता मत कर जा के आंटी-अंकल को सँभाल।"

"अंकल के क्या होना है उन्होंने तो मम्मी का जीना हराम कर देना है। पर मेरी मम्मी को तू जानती नहीं अगर अपनी पे आ गई, तो वह पापा की सारी बखिया उधेड़ देगी।" कहकर वह फ़टाफ़ट कैब बुक करवाने लगी।

पूरे फ्लैट का वातावरण गम्भीर हो गया। तैयार होकर वेदांशी चली गई। उषा का मन बेचैन हो गया। न जाने वेदांशी के घर क्या चल रहा होगा। एक अजब सी दुनिया है यहाँ की, जिसमें विचित्र रंग भरे हुए हैं... जैसे किसी आधुनिक चित्रकार की वह पेंटिंग जिसे किसी भी कोने से देखो आड़ी-तिरछी रेखाएँ ही नज़र आती हैं या बिखरे छितरे से रंग... नए ज़माने के चितेरों ने मूर्त-अमूर्त संरचनाओं के ज़रिए जिस लोक को जन्म दिया, वह बेहद ऊहापोह और व्यर्थ की जटिलताओं से भरा हुआ लगता है उसे। यह महानगरीय जीवन भी आधुनिक चितेरों की कोरी हुई दुनिया सी लगती है, जिसमें पैसा तो बहुत है पर उस जैसी साधारण लड़की के समझ की कम है। ख़ैर जब तक वेदांशी आ नहीं जाती उसे अब चैन नहीं पड़ने वाला।

अब तो उसे लगने लगा यह उसकी अपनी ही समस्या है। वैसे वेदांशी खुली क़िताब है। वह दिल्ली में ही पली बढ़ी है तो बहुत ओपन है। अपने घर-परिवार की सब सीक्रेट बातें आराम से बता देती है; जबकि उसे बचपन से ही यह सिखाया गया कि घर के मसले दहलीज़ न लाँघे कभी। उसे माँ की समझाई बहुत सी बातें याद हो आईं...'अगर औरत पेट में बात खटाती नहीं तो वही उसके घर में महाभारत मचा सकती है इसलिए बात को पी जाओ डकार भी मत लो। ससुराल की पीहर में न कहो और पीहर की ससुराल में न कहो, यही गृहस्थी के नियम-क़ायदे हैं।' पर उसे कभी-कभी लगता है क्या घर बचाने का ज़िम्मा औरत का ही है? टूटेगा तो उसके सहन न करने के कारण, बचेगा तो उसके सहन करने के कारण। माँ कभी भाई को तो नहीं समझाती

कि गृहस्थी कैसे बचाई जाए...उसे औरत का यह रूप नहीं पसन्द कि सिर्फ़ गृहस्थी बचाती रहे मरने तक।

उफ़्फ़ उसका सिर बोझिल हो गया। अब सन्डे को घूमने का प्लान तो चौपट हो ही गया। मेड को भी मना कर दिया था तो खाना भी खुद ही बनाना पड़ेगा।

दिन ढलते-ढलते उसकी आँख लग गई और डोरबेल की आवाज़ से आँख खुली। उषा चौंक कर उठी। फ़ोन पर वेदांशी की छह मिस्डकॉल... उफ़्फ़ भागकर दरवाज़ा खोला। वेदांशी थकी हुई थी पर थोड़ी खुश नज़र आ रही थी। बेड पर पर्स पटककर वह सीधे वॉशरूम चली गई। उषा का मन मचल रहा था यह जानने के लिए कि वेदांशी के घर आख़िर क्या कुछ हुआ होगा। कमरे में काफ़ी देर से फैली ख़ामोशी की हवा में कुछ सरसराहट होने लगी।

बेड पर पसरते हुए वेदांशी बोली-"तुझे चिंता हो गई क्या?"

"सच, किसी काम में मन नहीं लगा बहुत चिंता हुई आंटी की।"

"अरे मम्मी की मत पूछ, उनके पास बड़े-बड़े ब्रह्मास्त्र हैं। पापा बड़े मोगैम्बो बने घूम रहे थे न, अब फिस्स...मम्मी ने हम सबको फ़ोन किया कि घर पहुँचो और ख़ुद बेडरूम में दरवाज़ा बन्द करके सो गईं। मैं पहुँची तब दी और जीजू पहुँच चुके थे, हम सब ड्राइंगरूम में बैठ गए। पापा का गुस्सा सातवें आसमान पर। उषा यार जब पापा को गुस्सा चढ़ता है, तो उनके मुँह से गालियाँ तो यूँ निकलती हैं जैसे हरसिंगार के फूल सुबह-सुबह धरती पर झड़कर गिरते हैं।"

उषा को यह फैमिली ड्रामा बड़ा इंटरेस्टिंग लगने लगा। वह कई बार उनके घर गई है इसलिए उस घर के हर कोने से वाक़िफ़ उषा के सामने अब रंगमंच था जिस पर सब अपने-अपने हिस्से का अभिनय कर रहे थे।

"फिर क्या हुआ, आंटी कमरे से निकली या नहीं?"

"अरे सब बैठे थे और बेडरूम का दरवाज़ा खुलता है, मम्मी ने गेस्ट एंट्री मारी और उन्हें देखते ही पापा सीधे ही गुर्राने लगे,"देखो कितनी भैड़ी औरत है यह, इसके पास चार लाख कहाँ से आए? यह सीधी बनती है, पर है बड़ी चालू, मुझसे छुपाकर पैसे रखती है। अब बता ये पैसे तेरे पास आए कहाँ से और तूने छिपाकर क्यों रखे? नोटबन्दी न होती तो इस भैड़ी औरत के कारनामों का खुलासा भी नहीं होता...भैड़ी रन, घरे नू चट्टी न मारी जाए, न सुट्टी।"

उषा गुस्से में पापा पंजाबी कहावतें, गालियाँ सब हथियार चलाते हैं...ले तुझे भी क्या समझ आएँगी हमारे पंजाबियों की गलियाँ, भैड़ी रन मतलब बुरी रांड... बुरी औरत घर को दीमक की तरह चट कर जाती है, न तो उसे मार सकते न फेंकी जाए।

अब यह सुनते ही मम्मी के नथुनों से तेज़ साँसें आने-जाने लगी और वह वाली आवाज़ निकली उनकी जो तब निकली थी एक बार, जब पापा पर हाथ उठने वाला ही था मम्मी का।"

"ओह! अंकल पर हाथ उठने वाला था?" कह तो गई उषा पर सिहर गई एकाएक।

वेदांशी पर इसका कोई असर नहीं हुआ। वह पूरे मूड में थी "पापा का उनके बॉस की वाइफ़ से एक बार कोई झगड़ा हो गया तो उस बंदी ने पापा के थप्पड़ जड़ दिया। यह बात मम्मी को पता चली तो मम्मी को तो तू जानती ही है...इज़्ज़त डाउन करवाके आए थे तो मम्मी का हाथ उठ ही जाता उस दिन तो, पर तेज़ आवाज़ में दहाड़ कर ही रह गईं थी तब तो। आज वही रूप देखा हमने मम्मी का, नथुनों से साँसें छोड़ती मम्मी बोली "चिम्पू के बच्चे।"

मेरे पापा का बचपन का नाम चिम्पू है जो जीजू को भी नहीं पता था और पापा इस नाम से चिढ़ते हैं। चमन सिंह खुराना, याने मिस्टर सी एस खुराना एक सेकेंड में चिम्पू बन गया। बड़ी सॉलिड बेइज़्ज़ती हुई पापा की,तीन घण्टे की मूवी बन गई।

उषा सकते में आ गई। यह तो सच में ही मूवी जैसा ही कुछ है, हाई वोल्टेज़ ड्रामा। वह पल भर को खो गई। तभी वेदांशी की आवाज़ से वर्तमान में आई। पड़ोसी फ्लैट के दरवाज़े के बाहर कुछ लोगों की हँसी-ठिठौली की आवाज़ें आ रही थी शायद सन्डे को दोस्तों की महफ़िल सजी है... हमारे सन्डे को ही नज़र लग गई, ओह! वेदांशी तरह-तरह की उपमाएँ देकर घटना का सूरत- ए-हाल बताए जा रही थी।

"उषा यह जो पैन स्टैंड देख रही है न छोटा सा? मेरे पापा का मुँह इससे भी छोटा हो गया। हम सब बिल्कुल चुप बैठे रहे। मेरी मम्मी खड़ी हुई तो डॉली दी ने हमारे ड्राइंगरूम के कोने वाला भारी भरकम लकड़ी का शो पीस उठाकर छुपा ही दिया, वरना आज पापा के सिर पर पड़ता। मम्मी पर तो आज भूत आ गया।"

ओह! तो सारे मसाले हैं मूवी में...उषा का दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगा जैसे कि सब उसकी आँखों के सामने ही घट रहा हो। वेदांशी एक न एक किस्सा अपने घर का बताती ही रहती है पर उसने ऐसा भयावह किस्सा पहली बार ही सुना, वेदांशी को गप्पें हाँकना, ऑफ़िस की गॉसिप चटखारे लेकर सुनाना बेहद पसंद है। जब वह बताने लगती है तो रंग जमा देती है और यह भूल जाती है कि उसके घर की निजी बातें सरे बाज़ार आ रही हैं।

पानी के घूँट को गले से उतारते ही वेदांशी फिर शुरू हो गई। "उषा मेरी मम्मी तो अब सनक गई सीधी बोली 'चिम्पू के बच्चे चुप हो जा।'

तभी जीजू मैदान में उतर पड़े वह बोले "मम्मी जी! पापा जी ने आपके लिए क्या नहीं किया?क्या कमी रखी जो आज आप चार लाख रुपये छुपाए बैठे हो...क्या ज़रूरत थी पैसे दबाकर रखने की? कल को आपको देखकर डॉली भी यही करेगी। आप तो यह बताओ कहाँ से आई इतनी बड़ी रकम?"

मम्मी को अब कुछ नहीं सूझ रहा था, न दामाद न पति...बस प्रेत चढ़ रहा सिर पर, जीजू को बोली "ओय चुप कर तू कौन सा दूध का धुला है, तुम सब मर्द एक जैसे होते हो, तुझे भी बताती हूँ। चिम्पू के बच्चे जब तू गबन के मामले में जेल जाने वाला था तब मैंने ही पैसे निकालकर दिए और तुझे बचाया तब मैं 'भैड़ी रन' नहीं थी तब दुर्गा का अवतार थी।"

उषा की उत्सुकता बढ़ती जा रही थी। इस पुराण के चलते रात होने लगी। ऊपर वाले फ्लैट से कुकर की सीटियों की आवाज़ आ रही थी।

खिड़की के बाहर बत्तियाँ झिलमिलाने लगी। नवम्बर की गमक भरी शाम कुछ पलों के लिए खिड़की पर ठिठक गई। अँधेरा ढलने पर कमरे के पर्दों को तरतीब से लगाती हुई उषा ने कहा "जीजू को बुरा नहीं लगा जब आंटी ने डांटा?"

"तू उनके भी कारनामे सुन, मम्मी में ही भूत नहीं आया मुझमें भी आ रहा है, तू मुझे जानती ही है जब तक सब न बता दूँगी मुझे चैन नहीं... तू कितनी अच्छी है मेरी बातें सुन लेती है पर जब मैं पढ़ती थी, तो हॉस्टल की रूममेट ऐसी पल्ले पड़ी जो बड़ी एलीट क्लास थी, वह मेरी बातों को समझती ही नहीं थी। मेरी हँसी उड़ाती थी।"

"नहीं वेदांशी तू आराम से सुना, मुझे बड़ा थ्रिलिंग लग रहा है।"

"जीजू ने बीच में बोल के पंगे ले लिए। अब मम्मी ने जो ख़बर ली उनकी कि सब पर बेहोशी छाने लगी। मम्मी ने कहा "और तू भी सुन दामाद! तेरी वह दो कौड़ी की माँ कहीं की, उसने शादी में क्या किया? याद है तुझे कि याद दिलाऊँ ? हम तुम सबको लेकर शोरूम गए थे याद है वह किस्सा कि भूल गए? 'आई टेन' गाड़ी तुम्हें पसन्द करवाके बुक करवाई, शोरूम वाले को बोला यह हमारे दामाद जी हैं, इनको कोई और कलर पसन्द आए तो आकर बदलवा भी सकते हैं... तेरी माँ ने जो कांड किया वह याद है? दूसरे दिन तेरे ही साथ जाकर बारह लाख की गाड़ी बुक करवा आई...क्या इज़्ज़त दूँ उसे? गालियाँ देने का मन कर रहा है। क्या करती मैं ? बीच शादी के घर बैठाती बेटी को? उस समय तू और यह चिम्पू नहीं बोला कि यह औरत का पैसा है, कहाँ से लाई होगी, मैंने पाँच लाख निकालकर दिए। मैंने इज़्ज़त बचाई थी उस दिन, तब इस घर के मर्द कहाँ गए थे? और सुन ले चिम्पू के बच्चे अब तेरी औक़ात चाहे चार लाख के सूट पहनने की हो गई होगी पर वह दिन याद कर ले जब तेरे पास चड्डी के भी पैसे नहीं थे, वह भी पैसे मैंने ही दिए...तेरी इज़्ज़त के पैसे मैंने दिए।"

वेदांशी महाभारत के संजय की तरह उस दिन के युद्ध का हाल दिखा रही थी और उषा की आँखों के आगे जैसे रील चल रही थी। उसे इस वक़्त आसपास का कुछ भान नहीं रहा। वह जैसे उसी ड्राइंगरूम के एक सोफ़े पर बैठी थी जहाँ उनके घर की चिरपरिचित राजमाँ - चावल की महक आ रही थी...गहरे भूरे पर्दों पर गोल्डन चित्रकारी और दीवारों पर घोड़ों वाली पेंटिंग, वह लकड़ी वाला भारी शो-पीस सब जैसे उसके सामने ही हो।

वेदांशी की आवाज़ गौण हो गई और वह घटना की चश्मदीद गवाह की तरह उपस्थित थी। वेदांशी बोले जा रही थी "तुझे पता है मम्मी ने जीजू को कहा 'हौंडा सिटी लेते वक़्त तो नहीं पूछा कैसे दे दी? दे दे वापस मेरी गाड़ी। मेरा तो मन ही नहीं था गाड़ी देने का। मैं ख़ुद ऑफ़िस पूल करके जाती हूँ, क्या मेरा मन नहीं करता गाड़ी लेकर जाने का?"

तभी डॉली दी डर गई कि कहीं मम्मी गाड़ी वापस न माँग लें। वह मम्मी का विकराल रूप जानती है जल्दी से बोली "मम्मी आप गाड़ी को क्यों बीच में ला रही हो, यह बात कितनी पुरानी हो गई मिट्टी पाओ।" मम्मी को पानी पिलाकर डॉली दी ने मम्मी को ठंडा करने की कोशिश की। पर मम्मी बोले जा रही थीं, "सफ़ाई में बोलते क्यों नहीं दामाद बाबू?"

उषा फिर मम्मी ने चार लाख रुपये लाकर पापा के मुँह पर मारे और बोलीं "मैं ज़रूरी भी नहीं समझती तुम्हें और इस दो कौड़ी के दामाद को यह बताना कि पैसे मैं कहाँ से लाई...मुझसे प्रश्न करने वाले तुम होते कौन हो?और पति परमेश्वर जी तुम्हें तो पैसे का दर्द ही नहीं। भूल गए तुम जब अपने दोस्त को एक लाख रुपये देकर आए थे और वे डूब गए, मैंने तो नहीं पूछा?

उषा मम्मी के दिल में जैसे ज्वालामुखी जमा हुआ था जो पिघलकर आज बहने लगा। बात-बात पर रोने वाली मम्मी की आँखें आज एकदम सूखी थी, वह बस बोल रही थीं-

"मैंने कभी तुम्हारे आगे हाथ नहीं फैलाए, ख़ुद कमाती हूँ बस तुम्हें तो देती ही रही। पर अब तुम हिसाब ले रहे हो मुझसे; क्योंकि तुम मर्द हो और मैं औरत? बड़ी शान से ख़बर ले रहे मेरी, तुम्हारी हैसियत पता है न तुम्हें ? जाने दो तुम तो...अरे बेटियों के रिश्ते तुमसे हुए नहीं, तुमने गुरुद्वारे के रजिस्टर में नाम ढूँढ़ कर रिश्ता देखा, वह भी इस मेट्रीमोनियल के ज़माने में। चलो मैं एक कंप्यूटर ऑपरेटर हूँ और तुम? तुम्हें स्मार्टफ़ोन पर ठीक से मैसेज करने तो नहीं आते, भेजते कहीं हो जाता कहीं है... चिम्पू के बच्चे! मुँह न खुलवा बच्चों के सामने छह फुट से सीधा दो फुट का हो जाएगा।

और सुन डॉली तेरे आदमी ने तेरे को कभी पूछा कि पैसे कहाँ से आए तो डरना मत, कहना "जहाँ से भी आए तुझे क्या? और मुँह पर मारना, बन जाना भैड़ी औरत।" और सुन लो सभी "मुझसे प्रश्न करने की अथॉरिटी मैंने किसी को नहीं दी।"

मम्मी ने बस इतना कहा और बेडरूम में जाकर दरवाज़ा बन्द कर लिया। घर में इतने लोगों के होते हुए भी सन्नाटा छा गया। अब सड़क पर खेलते बच्चों का शोर ही सुनाई दे रहा था। कुछ पल पहले तो बस मम्मी का सुदर्शन चक्र ही चल रहा था।

आज किसी ने जीजू को नाश्ता या खाना खाने का नहीं पूछा, पापा बस इतना बोले "चलो भई जाओ तुम भी देर हो गई।"

वेदांशी के चुप होते ही फ्लैट में भी अब फ़िरसे ऊपर वाले बंगालियों के फ्लैट से आती चिरपरिचित आवाज़ों ने अपना अड्डा जमा लिया। वर्तमान एक बार फिर मूर्च्छना से लौट आया।

उषा को माँ की याद आ गई... माँ भी तो पैसे जोड़कर रखती है। क्या उससे भी हिसाब लिया जा सकता है? क्या वह भी उस दिन 'भैड़ी औरत' हो जाएगी? क्या पूरे परिवार की इज़्ज़त माँ के ही हाथ में है? रात गहरा रही थी और उसके सीने में दबे प्रश्न और भी गहरा रहे थे। वेदांशी का बोझ तो हल्का हो गया और वह गहरी नींद में सो गई पर उषा एक बोझ के नीचे दबा महसूस करने लगी।

000

कथा-कहानी

प्लेट में लड़की

उपेंद्र कुमार मिश्र

वह पहले भी इस ऑर्ट गैलरी में कई बार आ चुकी थी लेकिन इस तरह की उलझन और बेचैनी को इसके पहले उसने कभी महसूस नहीं किया था। आख़िर, क्या था उस पेंटिंग में जिसे देखकर वह असहज हो उठी थी? एक बार फिर उसने मोना की ओर नज़र डाली। वह उससे कुछ दूर किसी और पेंटिंग को देखने में उलझी हुई थी। उसे मौका मिल गया। वह भागकर फिर उसी पेंटिंग के पास पहुँच गई। नज़रें उससे चिपक गईं। क्या सोचकर बनाया होगा इसे? क्या चल रहा होगा इसे बनाते समय उसके दिमाग में? कितनी गंदी सोच रही होगी पेंटर की? उसने वहाँ बैठे व्यक्ति की ओर बड़े गौर से देखा। उसे चार - पाँच लोग घेरे हुए थे। उससे कुछ जानना चाह रहे थे। उसके चेहरे की हँसी बता रही थी कि वह उनसे बात करके खुश हो रहा था। शायद पेंटिंग उसने ही बनाई हो। जानना तो वह भी चाह रही थी। वह भी कुछ पूछना चाह रही थी उससे। कुछ क्यों, बहुत कुछ। ढेर सारे प्रश्न उसके दिमाग में कील की तरह चुभ रहे थे? व्यंजन की जगह उसने लड़की को क्यों परोसा है प्लेट में ? यह आइडिया उसे कहाँ से आया? एक ही प्लेट में कई काँटे और चम्मच क्यों रखे हुए हैं? इस काँटे - चम्मच से उस लड़की का क्या संबंध है?

उसने देखा , मोना भी उसे ढूँढ़ते हुए इधर ही आ रही थी।वह जल्दी से आगे बढ़कर बगल वाली पेंटिंग को देखने लगी। क्या सोचेगी वह, मैं बार-बार इसी पेंटिंग को क्यों देख रही हूँ? पहली बार जब वह मोना के साथ इसे बहुत देर तक निहारती रही थी तो उसने झल्लाते हुए कहा था- "ऐसे तो पूरा दिन लग जाएगा, इस एग्ज़ीबिशन को देखने में?ऐसा क्या है इसमें जो इतनी देर से देख रही हो?"मोना से झिड़की खाकर वह उसके साथ आगे बढ़ गई थी, लेकिन मन उसका वहीं अटक गया था, उसी पेंटिंग पर। एक बड़ा सा प्लेट। प्लेट के बीचों-बीच एक लड़की निर्वस्त्र, कामुक मुद्रा में लेटी हुई। गदराई जवानी और अंग-अंग से टपकती हुई मादकता। उसी प्लेट में किनारे कई चम्मच और काँटे रखे हुए।

उपेंद्र कुमार मिश्र
फ्लैट नं - 5 ,तृतीय तल, 984, वॉर्ड नं-7,
महरौली, नई दिल्ली - 110030
मोबाइल- 9350899583
ईमेल- umishra668@gmail.com

कामिनी मस्तिष्क में विचारों के आँधी-तूफ़ान के साथ आगे बढ़ती रही। क्या किसी लड़की को खाने के लिए प्लेट में परोसा जा सकता है ? क्या नारी को आज भी केवल भोग की ही वस्तु समझा जाता है? अगर यही सच्चाई है तो फिर नारी सशक्तिकरण के दावे क्यों किए जाते हैं? इस समय वह जिस पेंटिंग के सामने खड़ी थी, उसमें एक नवयौवना अपने घर की खिड़की से चाँद को देख रही थी। मोना को यह पेंटिंग बहुत पसंद आ रही थी। लेकिन कामिनी, उसे तो अब हर पेंटिंग में वह प्लेट वाली लड़की ही दिखाई दे रही थी। वह सोचने लगी - जिस पेंटिंग को देखकर वह इतनी उत्तेजित है, उसे देखने के बाद मोना ने कोई प्रतिक्रिया क्यों नहीं व्यक्त की? वह विचलित क्यों नहीं हुई? मानों उसके लिए यह सामान्य बात हो। मोना को ड्रॉइंग और पेंटिंग के बारे में अच्छी जानकारी थी। आसपास कहीं भी कोई प्रदर्शनी लगती, वह देखने ज़रूर जाती। अक्सर वह कामिनी को साथ ले जाती। पेंटिंग के बारे में कोई रुचि और जानकारी न होने के कारण कामिनी ऊपरी मन से उसके साथ घूमती रहती और जल्दी ही उकताकर वहाँ से चलने के लिए उस पर दबाव डालने लगती। कभी-कभी मोना पेन्टिंग देखकर उसके प्रकार, बनाने के ढंग तथा रंग-संयोजन के बारे में उसे बताना शुरू कर देती। शुरू - शुरू में तो यह सब कामिनी के दिमाग के ऊपर से गुज़र जाता था, लेकिन अब धीरे-धीरे उसे भी थोड़ी-बहुत बातें समझ में आने लगी थीं। फिर भी, वह कला पक्ष की तुलना में भाव पक्ष से ज़्यादा जुड़ाव महसूस करती थी। शायद इसी कारण आज वह प्लेट वाली लड़की उसे परेशान किए हुई थी।

कामिनी को अपने ऊपर गुस्सा आने लगा। वह इतना क्यों सोचती है? सोचना ही दुखों का कारण है। जो देखकर भूल जाते हैं, वह सुखी रहते हैं। उन्हें तनाव से नहीं गुज़रना पड़ता। वह हमेशा अपनी इसी आदत से परेशान रहती है। क्या दुनिया में अकेले वही संवेदनशील है?यहाँ और लोग भी तो आए हैं। उसकी तरह तो कोई परेशान नहीं दिखाई दे रहा। उसने चारों ओर एक विहंगम दृष्टि डाली

और फिर अपने आसपास के चेहरों को बड़े गौर से पढ़ने लगी। उसे किसी भी चेहरे पर तनाव दिखाई नहीं दे रहा था। सब सहज भाव से पेंटिंग देखते हुए आगे बढ़ते जा रहे थे। आपस में बातचीत कर रहे थे। कुछ बीच-बीच में हँस भी रहे थे, तो कुछ गंभीर होकर एक-एक कलाकृति का अवलोकन कर रहे थे। कुछ के चेहरे के भाव पेंटिंग के अनुसार परिवर्तित होते जा रहे थे। न कोई बेचैनी, न कोई तड़प। जो बिना रुचि के किसी कारण से यहाँ फँस गए थे, वे अनमने-से इधर-उधर घूमकर समय बिता रहे थे। वह अपने बारे में सोचने लगी। तो क्या यह उम्र का असर है? युवा मन घटनाओं और दृश्यों को देखकर आंदोलित होता रहता है। हृदय-सागर में भावनाओं के ज्वार उमड़ते रहते हैं। लेकिन यहाँ वही तो एक युवा नहीं है। बहुत से युवक-युवतियाँ यहाँ विचरण कर रहे हैं। उससे अधिक सुंदर और युवा। कोई तो परेशान दिखाई नहीं दे रहा। कुछ लड़कियाँ तो इतनी अधिक दर्शनीय हैं कि लोग पेंटिंग छोड़ उन्हें ही देखे जा रहे हैं। अचानक उसके मस्तिष्क में काँटे-चम्मच कौंधने लगे। उसकी धड़कन बढ़ गई। हाथ की बंद मुट्ठियाँ पसीजती-सी महसूस हुईं। और कदम बढ़ चले फिर उसी पेंटिंग की ओर।

वहाँ पहुँचकर उसने देखा कि यहाँ दर्शकों की संख्या अन्य जगहों से अधिक है। तो क्या ये लोग भी इसे देखकर वही सोच रहे हैं, जो वह सोच रही है। नहीं-नहीं, इनमें से किसी के भी चेहरे पर हैरानी का भाव नहीं है। सब सामान्य दिखाई दे रहे हैं। शायद, ये कला को कला की दृष्टि से देख रहे हैं। उसे एक बार फिर अपने पर गुस्सा आया। वह यहाँ क्यों बार-बार खिंची चली आ रही है? कुछ तो इसमें ख़ास है। वह भी अपने को संयत कर उसे कला की दृष्टि से देखने का प्रयास करने लगी। उसने एक लम्बी साँस खींची। कला और कलाकार। यहाँ कौन कलाकार नहीं है? सब एक से बढ़कर एक कलाकार हैं। कोई किसी कला में माहिर तो कोई किसी कला में माहिर। इस समय तो वह खड़ी ही कला की दुनिया में है। हर कला का अपना आकर्षक और हर कला की अपनी अभिव्यक्ति। कला मानव-मन की सबसे सुंदर प्रस्तुति है। कला में अनंत संभावनाएँ छिपी होती हैं। उसे किसी एक निश्चित व्याख्या में नहीं बाँधा जा सकता। हर व्यक्ति अपनी दृष्टि और समझ से उसका अर्थ निकाल सकता है। अपनी हर कलाकृति में कलाकार उपस्थित होता है। कला अमूर्त का मूर्त रूप है। कला को पढ़कर हम कलाकार की मानसिक बुनावट को समझ सकते हैं। वह भी उस पेंटिंग को बनाने वाले कलाकार की मानसिक बुनावट को समझने का प्रयास करने लगी।

उसकी दृष्टि एक बार फिर उस कलाकृति पर टिक गई। रंगों और रेखाओं के माध्यम से एक नव यौवना की काम-चेष्टा को जीवंत कैनवास पर उतार दिया गया था। उसकी मौनता भी कितनी मुखर थी। हर हृदय में खलबली मचा देने में समर्थ। संवेदनशील निर्वस्त्र अंगों पर संकोच का एक झीना पर्दा पड़ा हुआ। कलाकार विसंगतियों, ज्वलंत मुद्दों और महत्त्वपूर्ण विचारों को अपनी अभिव्यक्ति के लिए चुनते रहे हैं। लेकिन वह कलाकार द्वारा इस प्रकार की अभिव्यक्ति के औचित्य को समझने में अपने को असमर्थ पा रही थी। पता तो उसे भी था कि आज हम सभ्यता और प्रगति के उस पड़ाव पर पहुँच चुके हैं जहाँ नारी को भोग नहीं, सामूहिक भोग की वस्तु समझा जाने लगा है। वह तड़पती है, चीखती है, चिल्लाती है, रहम की भीख माँगती है, लेकिन उसकी हर कोशिश दरिंदों की

क्रूरता के सामने दम तोड़ देती है। जीवित बच जाने पर भी वह अस्मिता की अर्थी को लेकर ज़्यादा समय तक ज़िंदा नहीं रह पाती। कितना अच्छा होता, पेंटिंग बनाने वाले ने अपनी कृति में इसकी अभिव्यक्ति की होती। ऐसा करके वह विकृत मानसिकता पर करारी चोट कर सकता था। समाज के बंद कानों तक पीड़ित नारी की चीख को पहुँचा सकता था। इस बुराई के विरुद्ध उठ खड़े होने का अपना संकल्प दिखा सकता था। लेकिन उसने ऐसा कुछ नहीं किया।

वह एक बार फिर आक्रोश से भर उठी। लगा कि सीधे जाकर उससे पूछ बैठेगी कि तूने ऐसी पेंटिंग क्यों बनाई ? तुम्हारी हिम्मत कैसे पड़ी? तभी मोना ने उसके कंधे पर हाथ रखते हुए कहा-"तुम फिर यहाँ ? मैं तुमको उधर ढूँढ़ रही थी। ऐसी क्या बात है जो बार-बार आकर इस पेंटिंग को देख रही हो?"

कामिनी को झटका-सा लगा। उसका आवेग शांत हो गया। उसने पीछे मुड़कर मोना की ओर देखा और अपने को नियंत्रित करके धीरे से बोली- "देख रही थी कि कलाकार भी कितने शातिर दिमाग़ के होते हैं। कला की आड़ में क्या-क्या परोस देते हैं।" मोना ने उसकी बात को उतनी गंभीरता से नहीं लिया जितनी कामिनी को उम्मीद थी। हँसते हुए कहा-"छोड़ो इसे। सबको अभिव्यक्ति की आज़ादी है, तुम उस पर प्रतिबंध कैसे लगा सकती हो?" और वह उसे लेकर अंदर हॉल की ओर चल पड़ी।

आज़ादी, अभिव्यक्ति की - उसे थोड़ी कुढ़न सी हुई। क्या अभिव्यक्ति की आज़ादी की कीमत भी औरत को ही चुकानी पड़ेगी। आज़ादी का भी अपना एक विवेक होना चाहिए। कई बार कितनी क्रूर, निरंकुश और अमानवीय हो जाती है यह आज़ादी! इस आज़ादी के नाम पर समाज में कितनी अश्लीलता, अभद्रता और अराजकता फैलाई जाती है। हमें मर्यादा की एक रेखा तो खींचनी ही चाहिए। उसे याद आया, अभी कुछ दिन पहले ही उसने कॉलेज की डिबेट में 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' के पक्ष में बोलकर प्रथम स्थान प्राप्त किया था। लेकिन उसने

वहाँ जिस स्वतंत्रता की वकालत की थी, वह इस पेंटिंग वाली स्वतंत्रता से बिलकुल अलग थी। यहाँ और भी तो पेंटिंग्स हैं। उन्होंने भी तो अपनी अभिव्यक्ति की आज़ादी को प्रदर्शित किया है। उन पर किसी को क्या आपत्ति हो सकती है? कितनी अनुकरणीय और सराहनीय है उनकी आज़ादी।

शायद, कलाकार अपने आइडिया को नया मानकर बहुत खुश हो। उसकी सराहना करने वालों की भी कोई कमी नहीं है इस समाज में। नारी-देह सदा से पुरुषों की कमज़ोरी रही है। प्लेट में रखे काँटे-चम्मचों को हाथ में लेने के लिए वे उतावले होंगे। प्लेट में कामातुर लड़की जो परोस दी गई है। ऐसा अवसर फिर कब मिलेगा ? इसीलिए तो प्लेट में एक नहीं, कई काँटे-चम्मच सजा दिए गए हैं। काँटे-चम्मच उठाओ और टूट पड़ो। ऐसा गरमा-गरम, स्वादिष्ट व्यंजन और कहाँ मिलेगा? कितनी ललचाई नज़रों से देख रहे थे सब उधर ! उसे लगा, यह भी एक अपराध है। समाज में अश्लीलता फैलाने का अपराध, लोगों को यौन-हिंसा के लिए उकसाने का अपराध, नारी की ग़लत छवि पेश करने का अपराध। क्या नारी सामूहिक भोग के लिए स्वयं अपने को प्रस्तुत कर सकती है ? क्या वह इस तरह आमंत्रण के बारे में सोच सकती है ? नहीं-नहीं, छि-छि, कितनी गंदी सोच है यह ! क्या यह किसी सभ्य समाज की सोच हो सकती है ? क्या ऐसा ही होता है प्रगतिशील समाज? बिना सोच बदले ऐसी प्रगति का क्या अर्थ ? उसे बेचैनी-सी महसूस हुई। पसीजती हुई गरम हथेली की अनुभूति ने उसका ध्यान भंग किया। अपनी असहजता से विचलित हो वह अपने को सहज रखने का प्रयास करने लगी। उसने देखा, सब लोग दर्शक-भाव से प्रदर्शनी का अवलोकन कर रहे थे।

दर्शक-भाव ! वह मुस्कराई। इससे अच्छा और क्या हो सकता ? किसी तरह का कोई खतरा नहीं। तमाशा देखो और मज़े लो। आज सब तमाशा देखने में ही लगे हुए हैं। ग़लत होता देखकर भी हम हस्तक्षेप नहीं करते। कुछ बोलते नहीं। हमसे क्या मतलब का भाव लिए मूक दर्शक बने रहते हैं। जब तक हम पर आँच न आए, हम कसमसाते तक नहीं। प्रतिरोध किसी समाज की जीवंतता का लक्षण है और दर्शक-भाव उसकी जड़ता का द्योतक। तमाशबीन बने रहना अपराध को बढ़ावा देना है। हम अकेले कुछ नहीं कर सकते, जब सब यही सोचने लगेंगे, तो पहल करेगा कौन ? किसी न किसी को तो चुप्पी तोड़नी होगी। दूसरे का मुँह देखने से अच्छा है, अपने हिस्से का प्रतिरोध दर्ज कराना। आत्मा को मारकर जीवित रह लेना सबके वश की बात नहीं। एक बार फिर उसके चेहरे पर तनाव दिखाई देने लगा और उसके कदम बढ़ चले पहले वाले हॉल की ओर।

वहाँ जाकर वह ठिठक गई। भीड़ अधिक थी। सब उस पेंटिंग को देखने में मशगूल थे। वहाँ किसी के चेहरे पर तनाव या आक्रोश नहीं था। उसे आश्चर्य हुआ। वहाँ की स्तब्धता देख उसे लगा कि कहीं मैं ही तो ग़लत नहीं हूँ ? मुझे कला को कला की दृष्टि से देखना चाहिए। वह द्वंद्व में फँसी रही। तभी उसे महसूस हुआ कि वहाँ खड़े कई लोग छुपी नज़रों से उसी की ओर देख रहे हैं। उसे लगा, मानों उस प्लेट में लड़की की जगह वह खुद ही परोस दी गई हो। उसके चेहरे का रंग बदल गया। वह घबरा उठी। वहाँ से भागकर वह मोना के पास पहुँची और उसकी बाँह पकड़कर खींचती हुई उसे बाहर लेकर निकल गई। बहुत देर तक काँटे और चम्मच उसे नोंचते रहे।

000

सुरक्षा

डॉ. सुनीता जाजोदिया

अविनाश ने ज़ोर से ब्रेक लगाया तो प्रियंका ने उसे कसकर पकड़ते हुए पूछा ,"क्या हुआ?"

"उतरो ,सूटकेस गिर गया है।"

अविनाश ने कहा तो स्कूटर से उतरकर प्रियंका ने देखा कि बीच सड़क पर पड़े उस बैंगनी रंग के सूटकेस को एक युवक ने तेज़ी से अपने हाथों में उठा लिया है। स्कूटर के करीब आकर उसने वह सूटकेस अविनाश को थमा दिया। अविनाश ने उस भले युवक का शुक्रिया अदा कर स्कूटर पर बैठते हुए सूटकेस को अपने दोनों पैरों के बीच अच्छी तरह फँसा लिया था।

"एक बार देख लो कहीं से टूटा तो नहीं ?"

"मेरा खरीदा गया सूटकेस एकदम टिकाऊ है प्रिये मेरी तरह। चलो जल्दी बैठो, कहीं गाड़ी न छूट जाए।" अविनाश के इस जवाब पर वह मुस्कराते हुए स्कूटर पर बैठ गई। दिल से तो वह यही चाह रही थी कि गाड़ी छूट जाए किंतु जिस तेज़ी से स्कूटर सड़क पर दौड़ रहा था, उसे विश्वास हो गया था कि गाड़ी नहीं छूटेगी। गाड़ी छूटने में बहुत कम समय था इसलिए कार के बजाय स्कूटर से स्टेशन छोड़ना अविनाश ने उचित समझा था। वह जा तो रही थी किंतु अभी भी उसके मन में दुविधा थी कि वह सेमिनार में जाए या नहीं।

स्टेशन के प्रवेश द्वार पर छोड़कर अविनाश ने उससे विदा ली। थर्ड एसी के डिब्बे में अपनी सीट पर पहुँच कर सबसे पहले उसने सूटकेस को चैन से बाँध कर ताला लगाया। चाबी हैंडबैग में रखने के बाद आसपास उसने नज़र दौड़ाई तो पाया कि आठ यात्रियों के बीच वह अकेली महिला है। भय के मारे उसका गला सूख गया। पानी पीकर फिर से एक बार उसने उन सब पर नज़र डाली। पच्चीस-सत्ताईस वर्षीय दो युवक पहले से ही दोनों ऊपरी बर्थ पर अधलेटे से मोबाइल में आँखें गड़ाए हुए थे। उसने अंदाज़ा लगाया कि वे ज़रूर आईटी कंपनी में काम करते होंगे। उसके ठीक सामने बैठा अधेड़ व्यक्ति व्यापारी सा लग रहा था, जो या तो किसी दौरे पर था अथवा घर वापसी पर। अन्य चारों को देख कर उसे थोड़ी तसल्ली हुई क्योंकि वे काले कपड़ों में थे। मालाधारी स्वामी थे वे सब जो भगवान् अय्यप्पन के दर्शन के लिए सबरीमलै की तीर्थयात्रा पर थे। उनमें से दो नवयुवक अट्ठारह-बीस साल के भी थे। इन स्वामी से कैसा भय ?उसने अपने आपको समझाया।

तभी मोबाइल की घंटी ने उसका ध्यान भंग किया।

"हेलो, हाँ मम्मी, सब ठीक है, मैं रेलगाड़ी में... बताया था न आपको मैं केरल जा रही हूँ।

डॉ. सुनीता जाजोदिया
एसोसिएट प्रोफेसर एवं भाषा विभागाध्यक्षा,
विमेंस क्रिश्चियन कॉलेज, शिफ्ट 2, चेन्नई
मोबाइल- 9841139991
ईमेल- dr.sunitajajodia@gmail.com

कल से सेमिनार है... वापसी तीन तारीख को है। आपको याद नहीं रहता, अच्छा मैं आपको मैसेज कर देती हूँ। हाँ ठीक है, पहुँच कर फ़ोन कर दूँगी। अपना ख़याल रखना।"

अविनाश का वीडियो कॉल आ रहा था। वह जायजा ले रहे थे कि आख़िर प्रियंका गाड़ी में आराम से बैठ तो गई है। कोई परेशानी तो नहीं ।

"सब ठीक है, लो गाड़ी भी चल पड़ी है। अच्छा अपना ख़याल रखना अवि! बाय!" जवाब में उड़ता चुंबन किया अविनाश ने तो वह शर्म से लाल हो गई और तुरंत ही सचेत भी हो गई थी कि किसी ने देखा तो नहीं।

"तो आप कॉलेज में पढ़ाती हैं। आपके प्रोफेशन में भी क्या आपको यात्राएँ करनी होती हैं ? मैं तो ठहरा घड़ियों का व्यापारी। अक्सर दौरों पर ही रहता हूँ।"

"ऊँ... हाँ " छोटा सा जवाब देकर प्रियंका तुरंत दूसरी ओर देखने लगी कि वह फिर से कोई दूसरा प्रश्न न उछाल दे। एक बारगी तो वह घबरा गई थी कि भला यह कैसे जानता है कि वह कॉलेज में शिक्षक है। फिर वह समझ गई कि अवश्य ही इसने मम्मी से फ़ोन पर हुई बातचीत सुनी है। घर से रवाना होते समय उसने तय किया था कि इस यात्रा में वह अनजान लोगों से बिल्कुल बातें नहीं करेगी। उसका ध्यान फिर उन स्वामी पर चला गया, लगता है वे एक बड़े समूह में थे और सिर्फ इस डिब्बे में ही नहीं अगल -बगल के डिब्बों में भी फैले हुए थे। समूह के कुछ ज़िम्मेदार व्यक्ति बार-बार आकर उनकी ज़रूरतों और सुविधाओं के बारे में पूछ रहे थे।

टीटी से टिकट चेक करवाने के बाद वह सोने की तैयारी करने लगी। सीट से उठकर वह अपनी मँझली बर्थ नीचे करने लगी तो ऊपर लेटे युवक ने तुरंत लोहे की जंज़ीर खोल कर उसे थमा दी और एक मोटे स्वामी ने आगे बढ़कर जंज़ीर को बर्थ की साँकल में फँसाने में मदद कर दी। उस मोटे स्वामी ने पूछा क्या आप निचली बर्थ लेना चाहेंगी। उसने झट से इंकार कर दिया। किसी से भी वह किसी भी प्रकार के वार्तालाप में नहीं पड़ना चाहती थी। बर्थ नीचे करते वक्त स्वामी का हाथ उसके हाथ से छुआ तो वह काँप गई किंतु वह मोटा स्वामी एकदम सहज था। वह सोच रही थी कैसा कलयुगी स्वामी है स्त्री को छूने पर भी इसने क्षमा नहीं माँगी; जबकि इन दिनों तो ये ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। आजकल 'सब चलता है' की मानसिकता के 'मोड़' पर लोग आ गए हैं और शायद यही वजह तो नहीं दुष्कर्म के मामलों में बेतहाशा बढ़ोतरी की। उसके ज़ेहन में सुंदर और मासूम सी डॉ. प्रियंका रेड्डी की वह भोली सूरत उभर आई जो परसों से अख़बार, टीवी और समस्त मीडिया पर छाई हुई है। बर्बरता और अमानवीयता भरा वह शर्मनाक दुष्कर्म...और फिर गुनाह को छिपाने के लिए लाश को जलाना। जानवरों का इलाज करने वाली डॉक्टर इंसानी जानवर का शिकार हो गई। उफ्...स्त्री के प्रति कितनी पशुता...कितनी क्रूर निर्ममता। आख़िर क्यों ? महज़ इसलिए कि शारीरिक रूप से पुरुष बलशाली है और स्त्री कमज़ोर। इसलिए कि हमारी मनोसामाजिक कंडीशनिंग यह मानने के लिए की गई है कि पुरुष एक खुला सांड है और स्त्री खूंटे से बँधी एक गाय है। दुसह्य शारीरिक पीड़ा के साथ-साथ तार-तार होते आत्म-सम्मान एवं अस्तित्व की कितनी भयानक मानसिक पीड़ा से गुज़री होगी वह पीड़िता। क्या कभी किसी पुरुष को ऐसी पीड़ा से गुज़रना पड़ता है?

पुरुषों के बारे में सोचते ही उसे ख़याल आया कि यहाँ वह सात पुरुषों में अकेली महिला है। वह सोने से पहले बाथरूम गई थी तब भी उसने देखा कि महिलाओं की संख्या पुरुषों के मुकाबले इस कोच में बहुत कम है। उसके शरीर में झुरझुरी दौड़ गई कि क्या हो यदि इन सातों में से किसी के मन में भी शैतान जाग जाए। क्या वह आत्मरक्षा में समर्थ है ? नहीं... क्यों ? क्योंकि हमारे शिक्षा और सामाजिक तंत्र में बचपन से ही लड़कियों को कभी आत्मरक्षा का पाठ नहीं पढ़ाया जाता। आक्रमणकारियों से निपटने के लिए स्कूल कॉलेजों में किसी भी प्रकार के मार्शल आर्ट का न अनिवार्य प्रशिक्षण है न ही कोई कोर्स। वैकल्पिक रूप में कहीं उपलब्ध भी हो तो भी इनमें लड़कियाँ बहुत सीमित संख्या में होती है। माँ की ज़िद पर आख़िरकार उसने भी तो अपनी इच्छा के विरुद्ध जूडो कराटे न सीखकर स्कूल में बेकिंग कला ही तो सीखी थी। उसकी आँखों में फिर वह खूबसूरत भोला चेहरा उभर कर आ गया। माँ कहती थी कि जब प्रियंका चोपड़ा मिस वर्ल्ड बनी थी तब वह काफी दिनों तक घर में ताज पहन कर शीशे के सामने उसकी नकल करती और कहती मैं हूँ प्रियंका...मिस वर्ल्ड विजेता। दुर्भाग्य से इस पीड़िता और उसका नाम भी एक ही था, किंतु इस बार नाम और उम्र की समानता ने गर्व की जगह उसके मन में खौफ भर दिया था। परसों ही उसकी टिकट कन्फर्म हुई थी और उसी दिन यह मनहूस ब्रेकिंग न्यूज़ भी मिली थी।

पहली बार अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी में अपनी प्रतिभागिता के प्रति बेहद उत्साहित होने के बावजूद उस दिन वह अब केरल की इस यात्रा को रद्द करना चाहती थी। यह सुनकर अविनाश ठहाका लगा कर हँस पड़े। "भला ऐसे कैसे कोई घर में बैठ सकता है, सब पुरुष ऐसे ज़ालिम नहीं होते हैं। और फिर तुम तो इस संगोष्ठी में जाने के लिए काफी उत्सुक थी तुम्हारा मनपसंद विषय भी है और साथ ही भूल गई तुम। अभी तीन महीने पहले जब तुमने पहली बार अपने विभाग की ओर से राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया, तो दो दिन पहले से ही पत्नी समेत यहाँ पहुँचकर डॉ. चंद्रशेखर ने तुम्हारी भरसक मदद की थी। तुम्हें भी तो ज़रूर जाना चाहिए पहली बार उसने एक अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया है, आख़िर तुम्हारा क्लासमेट है वह।" जाना तो वह भी चाहती है, वह यह भी जानती है कि यात्रा रद्द करने पर चंद्रू हताश हो जाएगा। कॉलेज से ऑन ड्यूटी भी मिल गई है किंतु दुष्कर्म की इस ख़बर ने उसके हौसले पस्त कर रखे हैं।

वह चाहती थी अविनाश उसे जाने से रोक ले किंतु अविनाश स्त्री को कैद नहीं अपितु खुला आसमान देने में विश्वास रखते हैं। फिर भला वह उसे क्यों रोकते। पिछले वर्ष ही दोनों विवाह सूत्र में बँधे थे। मम्मी, पापा ने भी तो

उसे नहीं रोका था।

चेन्नई से इस बार कोई साथ भी तो नहीं मिला, पिछली बार उसके साथ मालिनी थी जब वह हैदराबाद के सेमिनार में गई थी। हैदराबाद के नाम से भयभीत होकर उसने ज़ोर से आँखें मींच ली।

अपने आसपास की हलचल और चेहरे पर पड़ती रोशनी से उसकी आँखें खुल गई।

समय देखा पाँच बजे हैं, करीब बीस मिनट में स्टेशन आने वाला है, जल्दी से फ्रेश होने के लिए वह बाथरूम की ओर लपक पड़ी। चेन खोलकर सूटकेस खींचकर वह दरवाज़े के पास जाकर खड़ी हो गई। उसी मोटे स्वामी ने पूछा,"कोट्टायम आने वाला है, क्या आप यहीं उतरेंगी?" उसने "हाँ" में गर्दन हिला दी।

गाड़ी जब प्लेटफार्म पर लगी तो वह नीचे उतरकर सूटकेस उतारने लगी तो उसी स्वामी ने आगे बढ़कर उसकी मदद की। "धन्यवाद" कहकर वह प्रीपेड ऑटो की ओर बढ़ गई।

"मैडम, यह बस अड्डा तो आ गया किंतु यहाँ सात बजे से पहले कोई बस नहीं मिलेगी आपको। अभी तो यह सुनसान है, अँधेरा भी है मैडम और उस पर आप अकेली भी हो, इस सुनसान बस अड्डे पर अकेली लेडीज़ का इंतज़ार करना बिल्कुल सेफ नहीं है।"

"तुम जानते थे तो फिर मुझे स्टेशन से लेकर ही क्यों आए, मैं वहीं इंतज़ार कर लेती।"

उस पर बमक पड़ी थी वह। चंद्रशेखर ने कहा भी तो था पर वह कैसे भूल गई ? चन्द्रू ने तो ज़िद की थी कि वह उसके लिए गाड़ी भेज देगा किंतु उसने मना कर दिया था कि तुम्हें सँभालने के और भी बीसियों काम होंगे इसलिए वह आयोजन पर ध्यान दे, उसकी चिंता कतई न करे। चंद्रू ने उसे यह भी बताया था कि कोट्टायम से वेंग्यूर पहुँचने के लिए उसे सत्तर किलोमीटर की यात्रा करनी पड़ेगी। स्टेशन से टैक्सी मिलती है वैसे बस यात्रा ज़्यादा सुरक्षित रहेगी। बस अड्डे से हर पाँच मिनट में लगातार डीलक्स बसें चलती हैं। वेंग्यूर पहुँचकर उसे गेस्ट हाउस सर्किल पर उतरना होगा और बस पचास मीटर की दूरी पर ही लोटस होटल में उसके ठहरने का पूरा इंतज़ाम था। होटल से कॉलेज तक के लिए गाड़ियों की पूरी व्यवस्था हो गई है।

"डरो नहीं मैडम जी, हम आपको अकेले नहीं छोड़ेगा बस स्टैंड के आस-पास एक अच्छी जगह ढूँढ़ कर ही आपको छोड़ेगा।"

"ठीक है ,कोई अच्छी चाय की दुकान पर उतार दो।" उसने ऑटोचालक से कहा किंतु अभी तो यहाँ कुछ भी नहीं खुला था, धरती-आसमान सब नींद के आगोश में मग्न थे।

"मैडम जी, फिक्र मत करो हम आपको अकेले नहीं छोड़ेंगे।"

दिसंबर महीने की पहली तारीख की हवा उतनी सर्द भी न थी किंतु उस अनजान चालक की बातों की दहशत से उसकी हड्डियों में कंपकंपी छूट रही थी। ऑनलाइन आर्डर किया पेप्पर स्प्रे भी तो उसके रवाना होने तक उसे नहीं मिला था। ऑटो घुमा-घुमा कर वह उसके लिए कुछ सुरक्षित जगह ढूँढ़ने लगा।

"हम तुम्हें एक पैसा भी और नहीं देंगे।"

"मैडम मुझे आपका बहुत ख़याल है ऐसे कैसे मैं आपको सुनसान जगह पर उतार सकता हूँ?"

केरल में वह तमिल में बोल रही थी किंतु उस चतुर चालक ने उसकी भाषा-समस्या को पहचान लिया था और वह हिन्दी में वार्तालाप करने लगा था। उसने गूगल करके सूर्योदय का समय देखा, अभी तो पूरे चालीस मिनट बाकी थे। सही जगह की तलाश में अंतर राज्य बस अड्डे का पूरा चक्कर लगाकर फिर से मुख्य द्वार पर पहुँचे तो ठीक सामने एक स्थानीय बस स्टॉप दिखाई दिया। प्रियंका ने देखा सड़क की हल्की रोशनी सीधे बेंच पर पड़ रही थी। वहाँ तीन भद्र लोग बैठे बातें कर रहे थे। उनमें से अधेड़ उम्र की एक महिला को देखकर उसने तुरंत आटो रुकवाया और सूटकेस लेकर उतर गई।

"हाँ, यह जगह सेफ है मैडम। सामने बस अड्डे से आपको सात बजे बस मिल जाएगी।"

यह कहते हुए वह ऑटो चालक चला गया। उसने गहरी साँस ली, शुक्र है कि उसने न तो अतिरिक्त पैसों को लेकर कोई बखेड़ा खड़ा किया और न ही वह बुरा इंसान था।

चाय की तलब लग रही थी, उसने आसपास नज़र दौड़ाई , सारी दुकानें बंद थी । यही उसका चेन्नई शहर होता तो सवेरे पाँच बजे से हर गली कूचे में चाय मिल जाती। लैंप पोस्ट के हल्के प्रकाश में बस स्टॉप पर बतियाते उन लोगों को अब उसने ध्यान से देखा।

तीनों में सबसे अधिक उम्र वाला पुरुष करीब सत्तर वर्ष का होगा और उसके साथ वाला करीब पैंसठ वर्ष का। महिला लगभग साठ की होगी। वह सोचने लगी कि इनका आपस में क्या रिश्ता होगा? उनमें से किसी के पास भी ऐसा कोई सामान नहीं था जिससे कि अनुमान लगाया जा सके कि वे मुसाफिर हैं। इतनी सुबह बस स्टॉप पर आने का उनका क्या मकसद होगा? उनके हाव -भाव पर उसने अपनी नज़रें जमा रखी थी किंतु उससे बेख़बर वे लोग बातचीत में मशगूल थे।

केरल की पारंपरिक बॉर्डर वाली साड़ी में थी वह महिला, पुरुष धोती में थे। वे लोग वेशभूषा से बहुत साधारण दिख रहे थे। इस समूह में सभी साठ पार के थे ।अनायास अपने आसपास सीनियर सिटीजन के बीच स्वयं को पाकर उसका भय तिरोहित होने लगा था। उनकी उम्रगत शारीरिक कमज़ोरी ने उसके अंदर साहस भर दिया था। अब वह सात बजे तक बेखौफ बस का इंतज़ार कर पाएगी। उस क्षण पीड़िता का मासूम चेहरा फिर से उसके सामने उभर कर आया तो उसे लगा कि दुराचारियों और उसकी मानसिकता में इस समय कोई फर्क नहीं है। कमज़ोर के सामने शक्तिशाली महसूस करने का यह भाव ही तो व्यक्ति को आक्रामक बना कर अत्याचार के लिए उकसाता है। क्या हो यदि ये तीनों के तीनों नौजवान हों। नहीं नहीं ... कमज़ोर के आगे ताकतवर होकर भला वह कौन सा तीर मार रही है। नहीं...वह हमेशा इस तरह कमज़ोर नहीं रह सकती। प्रियंका ने एक बार फिर अपने भीतर शक्ति का संचार महसूस किया, इस बार यह मार्शल आर्ट सीखने के दृढ़ संकल्प की शक्ति थी।

000

वृंदा का फैसला

टीना रावल

घर की सीढ़ी पर कुछ पदचापों की आवाज़ होती है। दो कांस्टेबल बैठक के दरवाज़े पर रुकते हैं और कड़क आवाज़ में बोलते हैं- "हाँ मैडम बाहर आओ"। वृंदा कुछ गिरते पड़ते सामने आकर खड़ी होती है। हेड कॉन्स्टेबल ने देखा यह एक बत्तीस-चौंतीस साल की सुंदर युवती सिर पर ओढ़नी ढके अस्त-व्यस्त से हाल में है।

"आपने सौ नम्बर पर कॉल किया था ? क्या हुआ है आपको ?" हेड कॉन्स्टेबल ने पूछा।

वृंदा ने कहा- "मेरे पति ने पीटा है।"

"क्यों किस बात पर झगड़ा हुआ ? क्या पहले भी कभी पीटा है इसने ?" इतने में सर्वेश वृंदा का पति भी आकर साइड में खड़ा हो गया।

"कारण कोई एक नहीं होता, बस इतना है कि यह किसी ज़िम्मेदारी में हाथ बँटाना नहीं चाहते। कुछ कहूँ तो गुस्सा करते हैं।" वृंदा ने जवाब दिया।

"मैडम यह सब चलता रहता है, गुस्से में मैं भी कभी अपनी पत्नी को एक दो थप्पड़ मार दिया था। तभी सर्वेश की ओर घूम कर बोले- "सॉरी बोल दो इसे और बात यहीं ख़त्म करो। कहाँ पुलिस स्टेशन और कोर्ट-कचहरी के चक्कर में पड़ते हो। ऐसे हर घर में औरतें ज़िद करने लगे तो घर टूट जाएँगे सब के।"

वृंदा नहीं मानती है वह रिपोर्ट करने पुलिस के साथ थाने जाती है पर ऐसा लगता है यह लोग नहीं चाहते कार्यवाही हो। वृंदा को इससे होने वाली परेशानियाँ समझाने लगते हैं। किसी तरह थाने के गार्डन में घंटा भर बिठाने के बाद सर्किल थाना अधिकारी से दोनों को मिलाया जाता है। वह तो जैसे पहले से ही सब कुछ जानता हो और निश्चित करके बैठा हो ऐसा लग रहा था, बोला - "क्या तुम दोनों पढ़े- लिखे हो कर बेकार की बातों को तूल देते हो।" वृंदा से कहता है "हम तो रिपोर्ट लिख लेंगे, फिर तुम शायद जानती नहीं कि क्या-क्या होगा, मेरे कहने से एक बार इसे मौका दो। अगर इसने फिर ऐसा किया तो इसे नहीं छोड़ेंगे अपने चार साल के बच्चे की सोचो।"

बाहर आकर सर्वेश मिन्नतें करता है "तुम चाहो तो तलाक ले लो पर केस मत करो।" बच्चे को देखकर वृंदा हार जाती है। लौटते हुए वह सोचती है तलाक तक तो कभी सोचा नहीं मगर इस आदमी के साथ कैसे जीऊँगी यह असहनीय है, जैसे गाँव का नौ-दस साल का उजड्ड लड़का। परिवार समाज औरत की रक्षा करने के लिए बने हैं मगर यही उसके लिए भक्षक सिद्ध हो रहे हैं।

मकान के नीचे के हिस्से में देर रात तक फ़ोन और मंत्रणा का दौर चलता है इसमें सर्वेश के भाई का परिवार रहता है। वृंदा के पिता और भाई अगली सुबह पाँच बजे पहुँचते हैं। सुबह के साढ़े सात बजे हाउसमेड रोज़ की तरह झाड़ू पोंछा लगा रही है, बैठक में पिता-भाई के साथ वृंदा चुप बैठी है। उसका चेहरा और आँखें सूजी हुई हैं, चाय ख़त्म हो चुकी है। वृंदा ने लँगड़ाते भारी कदमों से सारे कप उठाकर मेड को दिए। वृंदा का चार साल का बेटा उठकर बेडरूम के गेट से झाँका तो उसने बेटे से प्यार से गुड मॉर्निंग किया। वह नए लोगों को घर में देखकर ठिठका हालाँकि वह कुछ पहचानता तो था। वृंदा ने नाना और मामा से परिचय कराया, कुछ ही देर में वह बाल सुलभ चंचलता से खेलने लगा।

"हूँ... क्या बात हुई ?" पिता ने गंभीर मुद्रा में प्रश्न किया।

वृंदा से उत्तर देते न बना। क्या कहे, कहाँ से शुरू करे, वह भी तब, जब पिता सब कुछ जानते हैं। फिर अनजान बनने का कारण ? "यह सहयोग नहीं करते हैं। कहो क्या, क्या सुनते हैं, कोई काम ठीक से, ज़िम्मेदारी से नहीं करते हैं।" लड़खड़ाती ज़ुबान से वृंदा ने जवाब दिया और महसूस किया कि हमेशा की तरह उसकी आवाज़ खोखली साबित हो रही है पिता के सामने। वह जानती है पिताजी को, वे उस विचारधारा के हैं जहाँ लड़की को दो वक्त खाना और सिर पर छत है तो उसके जीवन में कोई समस्या मायने नहीं रखती है। लड़की जिस घर में ब्याह के आती है, वहाँ से ज़िंदा नहीं निकलना चाहिए सबकी इज़्ज़त ख़राब होती है। एक ऑफ़िसर होने के कारण वह बहुत ही ज़्यादा प्रैक्टिकल रहे हैं। पर कुछ मुद्दों पर, ख़ासकर बेटी के मुद्दे पर हमेशा

टीना रावल
ए-129, महेश नगर, जयपुर - 302015,
राजस्थान
मोबाइल- 8949213108
ईमेल- teenarawal1979@gmail.com

पुरातन पंथी सोच रही हैं। वह तो उसे कॉलेज पढ़ाना भी नहीं चाहते थे।

"देखो तुम लोगों को शादी के दस साल बाद ऐसी बेतुकी बातों पर झगड़ना शोभा नहीं देता, दोनों नौकरी करते हो तो उसके हिसाब से अपनी कार्यशैली बनाओ, एक ही तो बच्चा है वह भी नहीं पल रहा तुमसे।" तभी उन्होंने सोते हुए दामाद को आवाज़ लगाई "दामाद जी आठ बज गए हैं बाहर आइए"।

अपने स्वभाव की तरह ही रूखे-सूखे चेहरे और अपने व्यक्तित्व की तरह ही बेढंग चाल से सर्वेश बाहर आया।

"हूँ... बोलो क्या हुआ कल ?" पिता का वही सवाल सर्वेश से भी।

वृंदा को लगा फिर वही केवल कल की बात को तूल दे रहे हैं पिताजी, क्या इन्हें समझ नहीं आता या जानबूझकर समझना नहीं चाहते कि कुछ भी एक दिन में नहीं होता। मैं तो पल-पल दस साल से सह रही हूँ। पहले भी सर्वेश तीन चार-बार हाथ उठा चुके थे और कल तो ताबड़तोड़ मारा, उठा-उठा कर फेंका। मगर मेरे पिता न्यायवादी हैं, पहले अपनी बेटी की कल की गई ग़लती की तफ्तीश करेंगे, दस साल से बेटी के साथ हो रहे बेतुके और अन्यायी व्यवहार की नहीं। इक्कीसवीं सदी में भी कुछ नहीं बदला न, वही पितृसत्तात्मक और सामंतवादी समाज।

"इसने मुझे भला-बुरा कहा और गाली भी दी"। सर्वेश का नपा-तुला जवाब था।

"तो आपने भी कुछ किया होगा तभी उसने भला-बुरा कहा।" पिता कुछ सख़्त हुए।

"मैं अपने बच्चे को स्कूल के लिए तैयार कर रहा था, एक दिन पहले उसका जो स्कूल ब्लेज़र लाया था वह छोटा आ गया था।"

"यह कहो- तैयार नहीं कर रहा था बस ! हमेशा की तरह कोशिश कर रहा था और फिर यह कह देना कि यह मुझसे नहीं हो रहा तुम ही कर लो। और ब्लेज़र छोटा यूँ ही नहीं आ गया था, कहने के बाद भी पुराना साइज़ ही लाए थे क्योंकि कभी भी एक बार कहने पर इनके दिमाग में कोई बात नहीं बैठती। और आत्मज्ञान या विवेक से कभी कोई काम नहीं लेते हो।" वृंदा ने खींझते हुए कहा तो भाई ने घूरती हुई आँखों से उसे देखा।

"अग़र ज़्यादा चोट लग जाती या कुछ और हो जाता तो ? आप दोनों अपनी ज़िंदगी ही नहीं इस बच्चे की भी ख़राब कर देते। कहाँ जाता यह ? कैसे पलता ? सोचा है कभी ?" पिताजी दुख से बोले।

सुनकर वृंदा का भी कलेजा काँप गया। सोचा, बहुत मन्नत से पाया है मैंने बच्चे को, इसके लिए ही ज़िंदा हूँ, बाकी ज़िंदगी तो संघर्ष ही है। माना सबका जीवन संघर्ष ही है मग़र जब अपने साथ हो और थोड़ी तसल्ली दे तो बड़ा सुकून मिलता है। पर वृंदा की तो किस्मत सदा ही कसौटी पर ताने रखी है उसे। शादी से पहले, सुंदर और लेक्चरर के लिए क्वालीफाइड वृंदा पिता और भाई के कड़े पहरे में जीती रही। उम्मीद थी कि शादी होगी तो खुलकर जीने को मिलेगा। वक्त और हालात की नज़ाकत में घर से बहुत ही दूर शादी कर दी गई। शादी के पहले चार दिनों में पति की कमज़ोर समझ, दस दिनों में सास के तेज़ स्वभाव और जेठ-जेठानी के शातिर इरादों को भाँप गई। पर हमेशा नेगेटिव ही नहीं पॉज़िटिव भी देखना चाहिए, यह सोच कर जो पॉज़िटिव मिला उसी के सहारे दिन काटने लगी।

वृंदा सोच रही थी। आज भी सिहर उठती हूँ पहले दो सालों में हुए अत्याचारों से, जैसे किसी चिड़िया को नोचते बाज़ और डर से चिड़िया के धड़कते दिल का फटने को होना। शादी होते ही कुछ महीनों बाद अचानक माँ गुज़र गई, चाह कर भी नहीं कर सकी बग़ावत और दुखी पिता को आहत। इसलिए सालों उन्हें कुछ पता ही नहीं चला, जब कहने लगी तो यकीन नहीं किया और मियाँ-बीवी का आपसी मामला कहकर दूर हो गए।

"नमस्कार साहब!" पिता की आवाज़ से वृंदा को होश आया। उसने ससुर रामनाथ जी को बैठक में दाख़िल होते हुए देखा। वृंदा घूँघट करके बैठ गई, कुछ देर चुप्पी छाई रही। फिर सर्वेश ही बोला वृंदा से- "तुम्हें जो भी कहना है कह दो, क्या-क्या परेशानी है ?"

घूँघट से भी पुरुषों के सामने न बोलने की परंपरा तोड़ते हुए आज वृंदा को बोलना पड़ा। "क्या कह दूँ, आपको सुनाई-दिखाई कम देता है। तीन बार कहो तो भी बात उल्टी समझ में आती है। सारा समय बस अपने सामान और चीज़ों को ढूँढ़ने में लगे रहते हो क्योंकि उन्हें व्यवस्थित नहीं रखते हो। कमाल की बात हर चीज़ को हर जगह ढूँढ़ते हो। सब कुछ जानते हुए भी आपके माता-पिता ने हमारे साथ कभी सहयोग नहीं किया। आपके बेरोज़गार भाई का परिवार पाल रहे हैं, उनका हर तरह से सहयोग करते हैं। असल में आपके पैरेंट्स ने भी पल्ला झाड़ा है आपसे। धोखे से शादी कर सारी टेंशन मेरे गले बाँधकर।"

वृंदा की बात से भाई भड़क उठा- "तू ढंग से बोल"। वृंदा ने देखा हमेशा की तरह उसका हाथ उठने को तैयार था क्योंकि लड़कियों को ज़्यादा नहीं बोलना चाहिए। वह हमेशा ग़लत होती है और घर के पुरुष हमेशा सही, चाहे वह पढ़ने में और घर-जीवन की सभी परीक्षाओं में फेल हुए हो। पर घर की औरतों के मालिक होते हैं, और उन्हें हमेशा अपनी हदें याद दिलाते रहने वाले होते हैं। सच तो वही था जो मैंने कह दिया था, जो सब शादी के बाद जान गए थे, मगर उससे अनजान रहना चाहते थे। वरना बेटी को पीहर में बैठाने की टेंशन और न जाने क्या-क्या।

ससुर जी अपने ठंडे वचनों से माहौल को सामान्य जताने की पूरी कोशिश करने लगे- "मैंने तो हमेशा इन दोनों से कहा है कि तू-तू मैं-मैं न किया करो। अरे हमारी तुलना में तुमने जीवन में परेशानियों का सामना नहीं किया है। वृंदा ज़्यादा ही सेंसिटिव है।"

मन कह रहा है कह दूँ "हाँ मैं सेंसिटिव हूँ और आप सारे लोग इन्सेंसिटिव, जो दस सालों से एक औरत को परेशान करके अनजान बने हुए हैं। पर अब बहुत हुआ, मैं और नहीं सहूँगी जल्द ही कोई निर्णय लूँगी। सबसे पहले मेरे अस्तित्व को ढक कर गला घोंटता घूँघट उतारना ही होगा।"

"इसे डॉक्टर को दिखाया।" पिताजी ने सर्वेश से पूछा।

उसने काफी तसल्ली से कहा- "मुझे ज़रूरत नहीं लगी।"

वृंदा की सर्वेश से रही सही सहानुभूति भी

जाती प्रतीत हुई। अंदर ही अंदर कुढ़ती रही- जानवरों की तरह मुझे पीट कर इसे मेरी चोटों और दर्द का एहसास नहीं है। मैं अपना यह बेबस रूप देखकर हैरान हूँ। मैं भी युग-युगांतर से पुरुष से दबाई-सताई औरत का ही एक रूप हूँ। यह सही कह रहा है, इतना दर्द होने पर भी मैंने कल दोनों वक्त इसे खाना बनाकर जो खिलाया। मैं तो मार खाकर और आँसू पीकर ज़िंदा रह लेती पर माँ हूँ न, बच्चे को भूखा कैसे रखती!

रामनाथ जी का मोबाइल बजता है।"हाँ...ऊपर ही हूँ। यहीं आ जा।" कुछ सेकंड बाद कमलनाथ चाचा जी ऊपर आए। रामनाथ जी के पास बैठे और बोले "यह क्या सुन रहा हूँ सर्वेश!, तुम लोगों का झगड़ा थाने तक पहुँच गया, ऐसी क्या परेशानी हो गई वृंदा जो इतना गुस्सा किया ? और सर्वेश तुम्हें हाथ नहीं उठाना चाहिए था।"

यह चाचा जी केंद्रीय सेवा में पदस्थ अधिकारी हैं, इनकी अप्रोच से ही एसपी ऑफ़िस से सर्किल थाना अधिकारी को कॉल आया था कि मामला रफा-दफा करना है।

"अरे साहब! पहले भी तीन-चार बार हाथ उठा चुके हैं, मेरी बेटी को गुस्सा थोड़ा ज़्यादा आता है। मग़र अब कुछ भला-बुरा कहे तो मुझे फ़ोन करना, ऐसे हाथ नहीं उठाना और बेटी तुम भी फालतू बातें मत बोलना। मैं बार-बार इतना दूर नहीं आ सकता हूँ।" समझाते हुए वृंदा के पिता ने कहा।

पिता की बात सुनकर वृंदा पत्थर हुए जा रही थी। मतलब यही फ़ैसला है कि मेरी परेशानियाँ फालतू हैं। और गुस्सा...वह तो मैंने ठीक से कभी किया ही नहीं। हमेशा गृहस्थी बचाने के लिए समझौता करती रही। काश! एक बार मैं भी इन पुरुषों की तरह गुस्सा कर सकती। और पिताजी को बार-बार कब बुलाया, मैंने शायद पहली बार कहा है कि मेरे लिए आओ।

किचन में चाय बनाते हुए वृंदा की छाती फट रही थी उसने दरवाज़ा कुछ लगाया और उसके पीछे फ़फक पड़ी कितनी अकेली और असहाय हूँ इन सारे अपनों के बीच भी मैं। इतने अपमान और अपेक्षाओं के बाद अब कैसे जीऊँगी। कितनी और परीक्षाएँ देनी होगी, मेरा शरीर-मन-आत्मा सब घायल हैं। शायद ऐसी ही हालातों में लोग आत्महत्या की सोचते होंगे, पर मेरा तो बेटा है, उसका क्या होगा ? वृंदा को सीता की परीक्षा याद हो आई, सीता ने भी इतने दुख से घबरा कर धरती से कहा था "माँ तू अपने में समा ले, यह संसार बहुत दुख देता है। यहाँ कोई अपना नहीं सब रिश्तों की कसौटी है। और कमज़ोर घिसता जाता है।" वृंदा चाय लेकर घूँघट कर दर्द भरी चाल से बैठक में आती है, उसका जेठ भी ऊपर आकर चाचा जी से बातों में लग गया है या यूँ कहें कि हमेशा की तरह लोगों का अटेंशन वृंदा से हटाने में लगा हुआ है। उसने वृंदा को धमकी दे रखी है कि अगर सर्वेश को हिस्सा चाहिए तो वृंदा की भी इनकम का पाई-पाई का हिसाब देना होगा। पिता जी ससुर जी से कुछ बात कर रहे हैं। भाई बेटे के साथ बातें कर रहा है। कितना अच्छा ढोंग करते हैं न यह रिश्ते। अघोषित बैठक अघोषित नतीजे के साथ समाप्त हुई लगती थी।

भीतर द्वंद्व चल रहा है-मेरे घूँघट में होने का मतलब शायद यही है कि मैं हूँ ही नहीं। यह सब मेरे होने को न होना समझ कर निश्चिंत रह सकें। इनकी सामंतवादी सोच को पोषण मिलता रहे, परंपरा के नाम पर मेरे घूँघट के पीछे इन सब की अक्षमता और नपुंसकता ढकी रहे। वरना एक स्त्री की प्रतिभा के तेज से इनकी नाकारियों पर रोशनी पड़ जाएगी। घूँघट हटाया तो ज़बान भी खुलेगी, हो सकता है इनके कुतर्कों की दीवारों को जिन्होंने मुझे घेर रखा है ध्वस्त कर दे। वृंदा का सिर चकराने लगता है, सब घूमता नज़र आता है। बैठक में एक तरफ नीचे ज़मीन पर बैठी वृंदा खड़ी होती है और धीरे-धीरे बैठक के बीच में आ खड़ी हो जाती है। जेठ उसकी एक्टिविटी को नोटिस करता है, घूँघट से नज़र उठा कर सबके चेहरे देखती है, बारी-बारी से फिर देखती है...फिर देखती है और फिर धीरे-धीरे हाथ उठाकर घूँघट उठा देती है, पल्लू सिर से हटा देती है, कहती कुछ नहीं, चुप खड़ी रहती है, देखती है पर लगता है कहीं दूर तक देख रही है, वह अचानक बेहोश होकर गिर जाती है।

इनमें से कुछ लोग खड़े हो जाते हैं। इसका मतलब उसकी उपस्थिति और एक्टिविटी से अनजान बनने की कोशिश कर रहे थे।

वृंदा को अपने बिस्तर पर होश आता है। अब उठना संभव नहीं लगता, बच्चे की चिंता हो आती है। भाई चाचा जी के साथ अस्पताल दिखाने ले जाता है, जब दर्द और चोट का कारण पूछता है, वृंदा ने वही उत्तर दिया जो रास्ते में सोचा था- "सीढ़ियों से गिर गई तो कमर में चोट आई है और दर्द हो रहा है।" डॉक्टर के लिए समझना मुश्किल नहीं रहा होगा क्योंकि आमतौर पर उस जैसी शादी शुदा लड़कियाँ सीढ़ियों से गिरकर हॉस्पिटल पहुँचती रहती हैं।

कुछ देर बाद पिता और भाई कर्त्तव्य निभा कर लौट गए। पिता वृंदा की उम्मीद पर खरे उतरे एक बार भी साथ चलने को न कहा।

वृंदा दो दिन बाद जैसे-तैसे नौकरी पर लौटती है मगर अब घर से निकलते वक्त घूँघट नहीं है, कुछ लोगों को यह बहुत खटकता है। अगले दिन खिड़की में विचारों के सागर में डूबती-उबरती खड़ी रहती है, क्या मैं यहाँ से निकल सकती हूँ ? क्या मैं अकेले ही बेटे को पाल सकती हूँ? क्या समाज से विद्रोह करके इसी समाज में सरवाइव कर पाऊँगी ? सम्मान से जी पाऊँगी।

तभी उसका ध्यान चिड़ियों की तीखी चहचहाहट से टूटता है। पास के मकान के बाथरूम के रोशनदान में एक छोटी चिड़िया का घोंसला था और वह दो जंगली सी दिखने वाली चिड़ियों से ख़ुद को और अपने नवजात बच्चों को बचाने की कोशिश कर रही थी। उसका हौंसला और प्रतिरोध देखकर वृंदा दंग रह गई। आख़िरकार उसने घायल होने पर भी बच्चों को सुरक्षित रखा और दोनों चिड़ियों को भगा दिया। उसे जैसे जवाब मिल गया कि यह चिड़िया होकर अपने अस्तित्व के लिए जूझ सकती है। एक सप्ताह बाद सर्वेश वृंदा के पिता को सूचित करता है कि वृंदा ने अपना सामान लेकर किसी किराए के मकान में बच्चे के साथ शिफ्ट कर लिया है।

000

माँ री!

पंजाबी कहानी

मूल लेखक : कुलबीर बडेसरों

अनुवाद : सुभाष नीरव

कुलबीर बडेसरों
मोबाइल- 9819077617
ईमेल- kulbirbadesron20@gmail.com

सुभाष नीरव
WZ-61A/1, पहली मंज़िल, गली नंबर-16, वशिष्ट पार्क, सागर पुर, नई दिल्ली-110046
मोबाइल- 9810534373
ईमेल- subhashneerav@gmail.com

माँ री, तुम्हें इतना उदास देखकर मैं भी उदास हो जाती हूँ। तुम्हारा चेहरा उदास, उजाड़-बियाबान जंगल-सा लगता है जिसके सारे रंग उतर गए हों, मटमैला-सा, फेडिड-सा मानों एक ही पौचा फिरा हो पूरे मुखड़े पर, होंठों पर... और आँखें... आँखें तो मानों कहीं गहरे उतर गई हों, घनघोर परछाइयों में जहाँ कभी कोई सपना नहीं उगता, कोई उम्मीद नहीं बँधती, कोई तारा नहीं जगमगाता। कभी-कभी तुम सोच के गहरे समुंदरों में उतर जाती हो। तुम्हारे आस-पास क्या हो रहा है, तुम्हें पता ही नहीं लगता। आवाज़ भी लगाओ तो तुम्हें सुनाई नहीं देती, पता नहीं तुम क्या सोच रही होती हो! काश, मैं जान सकती कि उस समय तुम क्या सोच रही होती हो? आख़िर क्या? क्या तुम रुपये-पैसों के बारे में सोच रही होती हो? यही न कि यदि तुम इस महीने और आने वाले कुछ और महीने अपने वेतन में से थोड़े-थोड़े पैसे और बचा लो तो उन्हें जोड़कर तुम घर की कोई अन्य आवश्यक चीज़ ले सकती हो। ऐसा ही करती रही हो तुम। पैसे जोड़-जोड़ कर पहले गैस-चूल्हा लिया, फिर सिलेंडर लिया, फिर घर के हरे रंग वाले लोहे के स्टोव और मिट्टी के तेल की कैनी से पीछा छूटा, मिट्टी के तेल डिपो से छुटकारा मिला। फिर पैसे इकट्ठे करके तुमने गर्मियों में कूलर लिया, क्योंकि गर्मियों में मेरी पीठ पर होने वाली घमौरियों से तुम सदा ही परेशान हो जाती थीं। फिर तुमने किस्तों पर फ्रिज लिया था जिसमें से बर्फ़ के टुकड़े निकालकर हम शरबत में डालते थे और घंटों तक मैं बर्फ़ के टुकड़ों के साथ खेलती थी, खुश होती थी और मुझे खुश देखकर तुम भी खुश हो जाती थीं। तुम्हारे चेहरे पर एक तसल्ली का अजीब-सा भाव आता था और यह भाव मैं तभी देखती थी, जब तुम कभी मुझे खुश देखतीं...।

तुम मुझे बहुत प्यार करती हो न माँ! सच बताऊँ तुम्हें, मैं भी तुम्हें बहुत प्यार करती हूँ... तुम समझती हो, मैं तो बच्ची हूँ। नहीं माँ, मैं बच्ची नहीं हूँ, मुझे सब पता है, सब...बस, जब तुम गहरी सोच में पड़ जाती हो, तब मुझे पता नहीं लगता कि तुम उस समय क्या सोच रही होती हो? क्या अपने बारे में, मेरे बारे में, दुनिया के बारे में या अपने अकेलेपन के बारे में?... तुम कितनी अकेली हो माँ, मैं समझती हूँ। तुम कितनी जवान हो... कितनी सुंदर हो... पढ़ी-लिखी हो... नौकरी करती हो, पर तुम्हारी किस्मत ने तुम्हें बहुत धोखा दिया। तुम एक ज्योतिषी को अपनी

कुंडली दिखा रही थीं, शायद मेरी कुंडली बनवाने गई थीं। पता नहीं, उसे कैसे पता लग गया, वह बोला, "तुम्हारे भाग्य में पति का सुख नहीं है... तुम मंगली हो।" तुमने तब घबराकर मेरी तरफ देखा था और उतावली में पूछा था, "मेरी बेटी की कुंडली बनाओ पंडित जी, देखना यह मंगली न हो।" बताओ भला, यह पंडित के हाथ में कहाँ है कि मुझे मंगली बनाना है या नहीं।... वापसी पर मैं घर तक सोचती आई। बल्कि रात में भी मुझे ठीक से नींद नहीं आई।

मेरी माँ के भाग्य में पति का सुख क्यों नहीं है? क्यों नहीं... जब बाकी सब स्त्रियों के भाग्य में पति का सुख है तो मेरी माँ के भाग्य में क्यों नहीं है? क्यों नहीं? वह खुद ही क्यों पैसों के हिसाब-किताब में पड़ी रहती है, हमेशा उँगलियों की पोरों पर कुछ गिनती रहती है, उसके होंठ सदैव गिनती के साथ फड़कते रहते हैं। क्यों वह हमेशा रिक्शा के पैसे बचाती रहती है? क्यों हमेशा सब्ज़ी वाले से मोलभाव करती रहती है? सब्ज़ी ही क्यों, वह हर चीज़ का भाव सुनकर परेशान क्यों होती रहती है?

माँ तुम्हारी यह परेशानी देख-देख कर मुझे सब कुछ अच्छा लगना बंद हो जाता है। न मुझे आइसक्रीम अच्छी लगती है, न बर्गर, न पीज़ा और न ही बार्बी डॉल...। पर, एक चीज़ मुझे हमेशा आकर्षित करती है और वह है, मेरे संग पढ़ती लड़कियों के पिता... मुझे बहुत अच्छा लगता है जब लड़कियाँ अपने पिता के साथ स्कूटर के पीछे बैठकर स्कूल आती हैं, या पिता के साथ कार में। कितनी निश्चिंत लगती हैं वे लड़कियाँ जो अपने अपने पिताओं के साथ स्कूल आती हैं। लगता है, उन्हें कोई फिक्र नहीं, कोई परेशानी नहीं, मानों दुनिया की कोई भी प्रॉब्लम उनके चेहरे की निश्चिंतता को डिगा नहीं सकती। एक अजीब किस्म का अहंकार-सा, या कह लो अभिमान-सा छलकता है इन लड़कियों के चेहरों पर... स्कूटर या कार से उतरतीं वे ठीक तरह मुड़कर अपने पिता की ओर देखती भी नहीं। बस, आधा-अधूरा सा देखकर 'बाय' कहकर तेज़ी के साथ स्कूल के गेट से अंदर की तरफ दौड़ जाती हैं।... मैं होती तो जी भरकर अपने पिता को देखती, खड़े होकर ठीक तरह से उसको 'बाय' कहती। सच, यदि मेरा पिता होता... मैं क्या कहकर बुलाती उसको? 'पापा' या 'डैडी' या सिर्फ़ 'डैड' या 'पिताजी'। नहीं-नहीं, पिताजी नहीं, यह तो पुराना फैशन है... अब कौन बुलाता है पिताजी? यदि मैं 'पिताजी' बुलाती तो मेरी सब सहेलियाँ मुझ पर हँसती, मुझे 'ओल्ड फैशन्ड' कहतीं... मैं तो 'पापा' कहकर बुलाती, सिर्फ़ 'पापा'। कभी-कभी लाड़ में 'पापा जी' कहती या केवल 'पा'... मैं मन ही मन हँस पड़ती हूँ। फिर मेरे पापा भी मुझे स्कूल छोड़ने आते। कम से कम 'ओपन डे' वाले दिन तो आते ही, मेरी परसेंटेज चैक करते...मेरी स्कूल की प्रॉब्लम्ज़ सुनते... फिर मेरी टीचर के साथ मेरी पढ़ाई और प्रॉब्लम्ज़ डिस्कस करते। मेरे अंदर एक अलग ही तरह का आत्मविश्वास होता - सेल्फ कॉन्फीडेंस! अब जैसे तुम बुझी-बुझी रहती हो, झट छोटी-सी बात पर ही रो पड़ती हो, उदास हो जाती हो, हर किसी से डर जाती हो, सब सवालों से बचती घूमती हो, सुंदर-सा फैशनेबल सूट पहनने से भी झिझकती रहती हो... यह सब न होता। जब कोई हसबेंड-वाइफ़ स्कूटर या मोटर साइकिल पर चिपक कर बैठे जा रहा होता, तो तुम उन्हें मुड़ मुड़कर न देखतीं, बल्कि तुम भी गाढ़े रंग की लिपिस्टिक लगाकर अपने पति के जिस्म को अपनी एक बांह से घेर कर स्कूटर पर चिपककर बैठतीं - निश्चिंत, निडर, खुश... फिर जब मैं पापा के साथ बैठती तो मैं भी पापा से चिपट कर स्कूटर पर बैठती, पापा को कसकर पकड़ लेती तो फिर कोई डर न रहता।

मैं तो अपने पापा से कभी मिली भी नहीं हूँ। कैसे लगते थे मेरे पापा? मुझे तो कुछ पता ही नहीं। बस, इतना पता है, जब मैं तुम्हारे पेट में थी, तुम अपनी और मेरी जान बचाकर अपनी ससुराल से भाग आई थीं।

तुम्हारा पति और ससुराल वाले तुम्हें बहुत तंग करते थे। तुम्हारा दब्बू स्वभाव था, वे इसका और भी फायदा उठाकर तुम्हे कौंचते थे, तुम्हें अपमानित करते थे और कहते थे, "तू हमारा कुछ संवार...।" माँ री, जब तुम रो-रोकर ये बातें अपनी सहेलियों को बताती थीं, और जब मेरी इंग्लैंड वाली मौसी आई थी, तुम उसको भी बताती थीं। बताती कम थीं, रोती अधिक थीं। मुझे सब पता लग गया था माँ... तुम समझती थीं, मैं छोटी हूँ, मुझे कुछ पता नहीं लगेगा, पर मैं सब सुनती थी बड़े ध्यान से... मुझे सब पता लग गया था कि मेरे ददिहाल वाले बहुत लालची थे, बेकद्रे थे और मेरे पापा ने तुम्हारा साथ तो क्या देना था,तुम्हें तलाक ही दे दिया था।

और तुमने कचहरियों के चक्करों से डरकर उन कागज़ों पर दस्तख़त कर दिए थे जो पापा ने भेजे थे... असल में, तुम बहुत डरपोक हो माँ, बहुत दब्बू... तुम निडर होतीं तो यह सब न होता... अब भी कौन-सा निडरता के साथ जीती हो तुम? हर समय भयभीत-सी रहती हो।

मेरी मौसी-मौसा और उनके बच्चे आते हैं तो तुम्हारी जीभ तालू से लगी रहती है। बातें करते समय तुम्हारी जुबान काँपने लगती है, भाग-भागकर तुम काम करती हो, दबी-दबी तुम हर समय मुझे समझाइशें देती रहती हो - कैसे उठना है, कैसे बैठना है, कैसे बात करनी है, कैसे सब कुछ ठीक-ठाक गुज़र जाना चाहिए, यानी मौसी के बच्चों का यह टूअर...। मौसी के बच्चे कितने बदतमीज़ हैं, कितने मुँहफट हैं। कोई दाल-सब्ज़ी उन्हें पसंद नहीं आती। ऐसा लगता है जैसे इंडिया में पड़ती गर्मी की भी माँ तुम ही ज़िम्मेदार हो... तुम कैसे गिल्टी फील करती हो। तुम्हें और मुझे कुछेक कपड़े और सस्ते-से स्लीपर गिफ्ट में देकर वे लोग हम पर खूब रौब झाड़ते हैं। वही क्यों?...सब रिश्तेदार हमें तुच्छ समझते हैं, क्योंकि हम दुत्कारे हुए, नकारे हुए लोग हैं न! कोई रिश्तेदार हमारी बात नहीं पूछता।

मेरे तीन मामा और तीन मौसियाँ कैनेडा और एक मौसी, एक मामा इंग्लैंड में सैटिल हैं। कोई नहीं सोचता कि उनकी एक बहन इंडिया में अकेली रोज़ी-रोटी कमाकर अपनी बच्ची को खुद पाल रही है। कोई नहीं पूछता कि तुम्हें क्या चाहिए? तुम कैसे हो? गुज़ारा ठीक से हो भी रहा है कि नहीं? वैसे, पूछने की ज़रूरत भी क्या है? क्या दिखाई नहीं देता?

यह तो खुद ही सोचने-समझने वाली बात है न! फिर, कितने अवसर होते हैं जब मदद की जा सकती है। जैसे दिन-त्योहार, दीवाली, लोहड़ी, रक्षा-बंधन और जन्मदिन। मगर फ़ोन पर बातें करने के सिवाय कोई कुछ नहीं करता। या फिर इधर-उधर के फालतू काम बताते रहेंगे। इंडिया का यह काम है, वह काम है। माँ री, तुम कैसे दौड़-दौड़ कर उनके काम करती घूमती हो।... कभी इनके लिए इंडिया से रिश्ते खोजती थीं, कभी उनके लड़कों के विवाह करती घूमती थीं, जान तोड़कर काम करती हुई तुम बिछ जाती थीं... तुम ऐसी क्यों हो माँ? तुम सबका सोचती हो, तुम्हारे बारे में कौन सोचता है माँ? तुम्हें तो एक पैसे की भी मदद नहीं किसी भी तरफ से...।

मैं कई बार सोचती हूँ, जब मैं बड़ी हो जाऊँगी... यदि मैं कुछ बन गई, 'कुछ' से मतलब यदि मैं कोई सेलिब्रेटी बन गई या आम साधारण एक एम.बी.बी.एस. डॉक्टर या एक अफ़सर ही बन गई, या फिर मान लो एक टीचर ही बन गई तो क्या करूँगी?... किसका नाम लूँगी कि मेरा कॅरियर, मेरी पढ़ाई, मुझे पालने-पोसने में किसका हाथ है? तुम्हारा नाम लेने के सिवा मेरे पास कोई दूसरा नाम नहीं होगा माँ! किसी का भी नहीं... तुम्हारे सिवाय कौन पूछता है मुझे कि 'बता बच्ची, क्या चाहिए तुझे?' या 'क्या बनना चाहती है?' किसी की मदद तो क्या, हल्लाशेरी भी नहीं है... बस, सभी रिश्तेदारों को अपनी शेखियाँ बघारने से ही फुरसत नहीं... मेरा छोटा मौसा तो तुम्हें प्रवचन ही सुनाता रहता है फ़ोन पर। इंडिया आता है तो डेरे वाले बाबा को एक लाख का चढ़ावा चढ़ाकर जाता है। तुम्हारी एक सहेली है ऊषा, बड़ी मुँहफट और समझदार है, सुनते ही वह बोली थी, "इससे तो वह तेरी बेटी के नाम पर एफ.डी. ही करवा जाता तो ज़्यादा पुण्य लगता।"

यह वही मौसा है जिसकी खोज तुमने छोटी बहन के लिए की थी। जिसे शगुनों के साथ कैनेडा भेजा था। जहाँ जाकर वह इस योग्य बन सका कि इधर के डेरों पर लाखों का चढ़ावा चढ़ा सके।... वही मौसा अब पंजाब से वापस कैनेडा पहुँचता है तो तुम्हारी बहन को उलाहने देता है कि तेरी बहन ने मुझे ज़्यादा फ़ोन नहीं किए।

मौसा ही क्यों? तुमने तो दो भाभियों और बड़ी बहन के लड़के के लिए बहुएँ भी इंडिया से खोजकर कैनेडा पहुँचाईं... तुम्हारी क्या कद्र हुई माँ? तुम्हारी तो आधी ज़िन्दगी उँगलियों पर हिसाब-किताब लगाते ही बीत गई।

सभी रिश्तेदार हमें अपने बारे में शेखियाँ बघार कर बताते हैं। कोई कहता है – 'मैंने चार बेडरूम वाला घर लिया है जिसमे एक लिविंग रूम और एक ड्राइंगरूम है और दो बेसमेंट हैं।' दूसरा भी बताता है, 'मैंने पुराना घर बेचकर एक बड़ा नया घर ले लिया है।' इसी तरह तीसरा और चौथा भी, यानी हर रिश्तेदार ने बड़े-बड़े घर ले लिए हैं, बड़ी-बड़ी गाड़ियाँ ले ली हैं। उनकी विदेशों से आई चिट्ठियाँ पढ़-पढ़कर मैंने जब से होश सँभाला है, देखती आई हूँ कि तुम्हारे चेहरे पर अजीब-सी स्याही फिर जाती थी। तुम उदास-सी अपने किराये के मकान की ओर देखती थीं। सर्दियों की सर्द सुबहों और ठिठुरती शामों को तुम्हें किराये वाले मकान के गुसलखाने में काँपते-ठिठुरते कपड़े धोती देखती थी। "माँ, तेरे हाथ थन्दे हो गए " मैं तुतलाती ज़ुबान में तेरे हाथ अपने छोटे-छोटे हाथों में पकड़कर कहती थी। जवाब में तुम कहती थीं, "कोई बात नहीं बेटा, अगले साल तक मैं वॉशिंग मशीन ले लूँगी।" और फिर तुम होंठों ही होंठों में कुछ गिनती करती थीं... तुम्हारे लरजते होंठ... शायद फिर उसी हिसाब-किताब में ...।

स्कूल से छुट्टी के बाद स्कूल की बस सीधा मुझे क्रेश में छोड़ देती, शाम तक मैं वहीं रहती। ऊबी-ऊबी, परेशान-सी। कभी मैं सो जाती, कभी उठकर बाहर बॉल्कनी की मुंडेर के पास खड़ी हो जाती, तेरा इंतज़ार करती। तुम हाँफती हुई एक हाथ में पर्स और दूसरे हाथ में छोटा-मोटा सामान और सब्ज़ी वाला थैला उठाए तेज़ कदमों से सीढ़ियाँ चढ़ती मुझे दिखाई देतीं तो मैं दौड़कर तेरे पास पहुँच जाती। तुम मेरा स्कूल बैग और क्रेश का बैग सँभालती हुई मुझे लेकर बाहर सड़क पर हाँफती हुई चलती रहतीं। मैं तुम्हारे साथ-साथ तुम्हें देखते हुए चलती रहती।

छुट्टी के दिन मेरा बहुत मन करता कि मैं तुम्हारे और अपने पापा के साथ कहीं घूमने जाऊँ जैसे पॉर्क में, सिनेमा देखने, सर्कस देखने या किसी पार्टी में, पर ऐसा कैसे हो सकता था? तुम तो अकेली थीं, तुम सदैव छुट्टी वाले दिन घर के काम निपटाकर मुझे पढ़ाने बैठ जाती थीं। पर कभी-कभी मैं देखती थी, शाम को तुम भी उदास-सी हो जाती थीं। खिड़की में खड़ी होकर तुम यूँ ही सड़क की ओर देखती रहती थीं, शायद तुम्हारा मन भी करता होगा, घूमने-फिरने को, शॉपिंग करने को, किसी का हाथ पकड़कर सैर करने को, किसी पार्टी में जाकर धमाल मचाने को... है न माँ? तुम्हारा मन अवश्य करता होगा, किसी को अपने सारे दर्द, सारे दुख बताने को। किसी अन्य को अपनी ज़िम्मेदारियाँ देकर, सुर्खुरू होकर जीने को, चाहे वे ज़िम्मेदारियाँ बिल चुकाने की हों, घर का किराया देने की हों, घर की किचन से लेकर मेरे स्कूल और क्रेश की फीसें भरने की हों, खुलकर जीने की हों, हर प्रकार की खुशहाली लेने की हों। हर ज़िम्मेदारी को दूसरे के कंधों पर डालने की या कम से कम बाँट लेने की हो... ज़रूर तुम्हारा भी मन करता होगा न माँ मेरी... है न माँ?

मगर मैं कभी तुमसे पूछती नहीं हूँ। कैसे पूछ सकती हूँ? और फिर पूछने-बताने की आवश्यकता भी क्या है? क्या मैं महसूस नहीं करती? मैं सब जानती हूँ माँ! तुम अकेली हो, मैं तुम्हारे अकेलेपन को अनुभव करती हूँ, मैंने तुम्हें किसी महफ़िल में, किसी विवाह या किसी जन्मदिन या मैरिज ऐनीवर्सिरी की पार्टियों में झिझक-झिझककर जाते देखा है, वहाँ जाकर एक कोने में सहमी-दुबकी बैठे देखा है।

आजकल तुम्हारा फिर वही हाल है। वही चिंताओं में घिरा चेहरा, वही उँगलियों की पोरों पर कुछ गिनती... तुम किसी तैयारी में रहती हो। मैं हैरान थी, कहाँ की तैयारी हो रही है? पूछने पर पता चला कि मेरा सबसे बड़ा मामा अपने बेटे को ब्याहने भारत आ रहा है। विवाह पर और भी बहुत सारे रिश्तेदार पहुँच रहे हैं, जैसे मेरे मामा-मामियाँ, मौसा और सबके

बच्चे... मेरे नाना-नानी तो बेचारे इस दुनिया में नहीं थे। शेष पूरा अमीर ननिहाल परिवार ननिहालवाले गाँव में पहुँच रहे थे और माँ तुम भी विवाह से कुछ दिन पहले ही अपने ऑफ़िस से छुट्टियाँ लेकर और मुझ संग लेकर गाँव में पहुँचोगी, यही प्रोग्राम था तुम्हारा। और तुम मुझे बार-बार समझातीं, मैनर्स सिखातीं, दबी-दबी सी, सिकुड़ी-सी, लेकिन ऊपरी तौर पर खूब कान्फीडेंस दर्शाती हुई, खुश-खुश ननिहाल वाले गाँव पहुँची थीं। हमारे रिश्तेदारों की शान देखने वाली थी। अलग-अलग कमरों में अलग-अलग परिवारों ने डेरे जमा रखे थे। हर कमरे में अधखुले बड़े-बड़े अटैची, उनके अंदर से झाँकते नए-नए, सुंदर-सुंदर कपड़े, अल्मारियों में बड़ी-बड़ी हर तरह की बोतलें, चाहे वे स्कॉच की हों, शैम्पू की हों या परफ्यूमों कीं, बस खुशबुएँ ही खुशबुएँ... और सबके चेहरों पर अजीब-सी लालियाँ, चाहे वह पैसे की हों, बेफिक्री की हों या फ़ॉरनर्स होने के घमंड की हों... पर थीं ज़रूर!

हर रोज़ पार्टी हो रही थी, कभी माइये की पार्टी, कभी संगीत की पार्टी, कभी सलामियाँ पड़ रही थीं, भंगड़े पड़ते थे, डैक बजते थे। मेरे मौसाओं की जेबों में से बटुए उछल-उछल पड़ते थे, नोटों से भरे बटुए। और जिस दिन बारात चढ़ी, नज़ारा देखने वाला था। हर तरफ गुलाबी पगड़ियाँ ही पगड़ियाँ! सुंदर-सुंदर कोट-पैंट, टाइयाँ, कलाइयों पर सुनहरी घड़ियाँ और दाएँ हाथ की कलाइयों में सोने के कड़े पहने पुरुष और सिल्क की सुनहरी कढ़ाई वाले सूटों में गहनों से लदी स्त्रियाँ... चाहे वे मेरी मौसियाँ हों या मामियाँ... और मैं... मैं उन रौनकों, रंगों और संगीत की तेज़ धुनों के बीच तुम्हें ढूँढ़ रही थी, और तुम खोई हुई-सी, भाग-भागकर काम करती हुई, हर मज़ाक, हर मखौल के आगे यूँ ही हँसती हुई, सारे विवाह को सिर पर उठाये घूम रही थीं। पता नहीं, तुम पर तरस क्यों आ रहा था।

'आनंद-कारज' हो रहा था। कितने सुंदर बोल गूँज रहे थे गुरुद्वारे के ग्रंथी के। फेरे हो रहे थे। तुम्हारा विवाह भी ऐसे ही हुआ होगा न माँ?... हाँ, ऐसा ही हुआ था, तुम बता रही थीं एक बार किसी को कि तुम्हारी अरेंज मैरिज हुई थी। मैं तुम्हारे मुँह की तरफ देखती हूँ, तुम्हारी आँखों में क्या है? क्या?... आँसू या खालीपन? दम तोड़ती ख्वाहिशें या सिसक रही इच्छाएँ?...

'आनंद-कारज' संपन्न हो गया। अब सब जोड़े उठ उठकर दूल्हा और दुल्हन के गले में हार डालने लगे थे, शगुन उनकी झोलियों में डालकर तस्वीरें खिंचवाते थे। तुम बार-बार अपने होंठों पर जीभ फेर कर खुद को तैयार कर रही थीं। तुम्हारे हाथों में भी दो हार थे। शगुन झोली में डालने के लिए हाथ में पैसे पकड़े हुए थे।

जब सब लोग हार और शगुन डाल चुके तो तुम भी मेरा हाथ पकड़ कर उठी थीं। हम दोनों ने दूल्हा-दुल्हन को हार डाले, शगुन डाला और फ़ोटो खिंचवाई। फिर तुम मेरा हाथ पकड़कर वापस अपनी जगह पर आ बैठी थीं। तुम्हारा हाथ अपने हाथ के ऊपर मैंने काँपता हुआ देखा था।

'आनंद-कारज' के बाद भोजन के लिए मैरिज-हॉल की ओर बढ़ती बारात में भंगड़े की धमालें पड़ने लगीं। सब जोड़े एक-दूजे के हाथ पकड़ कर, आँखों में आँखें डाल कर नाच रहे थे... बैंड-बाजे के शोर में नोटों की बारिश हो रही थी। तुम भी मुस्कराती हुई ताली बजा रही थीं। शराबी हुए मेरे छोटे मौसा ने कई बार तुम्हें बांह से पकड़ कर भंगड़े में खींचना चाहा, पर तुम तो लगता था, धरती में समाती जा रही थीं। कितनी ग़रीब! कितनी अशक्त!

भंगड़े के बीच कोई बच्चा रोने लगता तो उसका पिता उसको एक हाथ में उठाकर चुटकी बजा बजाकर नाचने लगता। मेरे साथ तो ऐसा कभी नहीं हुआ था कि मेरे पापा पार्टी में नाच रहे हों और मैं किसी बात पर रोने लगी होऊँ तो मेरे पापा मुझे एक बांह पर बिठाकर दूसरे हाथ से चुटकियाँ बजा बजाकर नाचे हों और मेरी माँ बेफिक्र होकर किसी दूसरे कोने में नाच रही हो। बेझिझक, कान्फीडेंट! हौसला उसके चेहरे से टपक-टपक पड़ता हो, पति के होने का हौसला, पति के पास रुपये-पैसे होने का हौसला, बैंक के लॉकर में गहने रखने का हौसला, पति की ओर से मिला पुश्तैनी मकान और ज़मीन रखने का हौसला... बस, कोई साथ है, यही हौसला... और उसी हौसले में दाईं बांह उठा-उठाकर नाचती हुई, लाल-सुर्ख होती मेरी माँ...।

दिनभर हंगामा होता रहा। रस्में होती रहीं। विवाह होता रहा। शाम को बारात वापस अपने ठिकाने पर पहुँच गई। अब सब हॉल में रिलैक्स होकर बैठ गए थे, हाथों में गिलास और हँसी-ठहाके।

"तू कितने साल की हो गई अब?" मेरी मौसी ने लापरवाही के साथ मुझसे पूछा और साथ ही, फर्श पर बिछाए सफ़ेद गद्दे पर टेढ़ा-सा होकर लेट गई।

"तेरह साल की...," मैंने जवाब दिया। पर माँ, मैंने देखा जैसे तुम हीनभावना से ग्रस्त हो गई थीं। पता नहीं क्यों तुम्हारे चेहरे पर बेचारगी-सी फैल गई थी।

"ले, और दो-चार साल तक हुई ब्याहने लायक।" मेरी दूसरी मौसी ने तुर्रा छोड़ा।

"अरे, इसका विवाह तो मैं करूँगा अपने हाथ से..."मेरे बड़े मौसा ने छाती फुलाकर कहा।

"इसका रिश्ता तो हम ले जाएँगे कैनेडा..." मेरी मौसी ने इंग्लैंड वाले मौसा पर कैनेडा का रौब डाला।

"ले, कैनेडा में क्या है? दूर दूर तक कोई बंदा नहीं दिखाई देता, जैसे बियाबान हो। बात करो हमारे इंग्लैंड की, जहाँ रौनकें ही रौनकें हैं।" मेरी इंग्लैंड वाली मौसी ने चटखारा लगाया।

"पर अपने से पहले मुझे अपनी माँ का विवाह करना है, उसका अकेलापन दूर करना है। वह भी इंसान है और ज़िंदगी की हर खुशी, हर सुख पर उसका भी हक़ है। उसके बारे में कोई नहीं सोचता, कोई नहीं देखता। उसका भी हक़ है, सिर उठा कर जीने का...।"

खनकते गिलास रुक गए थे, सबके मुँह बंद हो गए थे। इतना सन्नाटा... इतनी चुप! सिर्फ़ मेरी अकेली की आवाज़ गूँज रही थी। अचानक मैंने तुम्हारी तरफ देखा था माँ... मुझे लगा, तुम्हारा सिर तो मैंने अभी ऊँचा कर दिया है, माँ मेरी!...

000

आह ! बिरजू भय्या...!

ज़ेबा अलवी

ज़ेबा अलवी
बी-105, अफ़नान आर्केड, ब्लॉक-15, गुलिस्ताने जौहर, कराँची, पाकिस्तान - 75290
मोबाइल- +92-3350315438, +92-3007031421
ईमेल- zeba.alavi@gmail.com

दिन पखेरू ही तो थे, जो उड़े तो कभी वापस न आने के लिए! हम कैसे उन्हें पिंजरे में क़ैद कर सकते थे। मगर कवि की यह इच्छा भी ख़ूब है- वह जतन से पालता, मोती के दाने देता, सीने से लगा कर रखता!

"काश वक़्त ठहर जाता" वक़्त फूलों की सेज भी है, काँटो का ताज भी, वक़्त बड़ा ज़ालिम होता है, यह वक़्त लौट कर नहीं आएगा, आज तुम वक़्त को मार रहे हो, कल वक़्त तुम्हें मार देगा।

समय से संबंधित तमाम मुहावरे, तमाम कविता न केवल उर्दू शायरी बल्कि संसार की तमाम ज़बानों में कहे, सुने जा रहे हैं। सदियों से यह सिलसिला जारी और जारी रहेगा।

कभी-कभी बहुत "नीचे" से अच्छे-बुरे समय से संबंधित कविता या जुमले हमारे दिल में उतर जाते हैं। जब हिन्दुस्तान से "हिजरत" की (या करनी पड़ी)

हमने जब वादी-ए गुरबत में क़दम रखा था-
दूर तक याद-ए-वतन आई थी समझाने को

ऐसी बहुत सी बातें तसल्ली देती थीं। परंतु बहुत "नीचे" का शब्द यूँ कहना पड़ा कि यहाँ, कराची की बसों पर जिस तरह के जुमले या शेर लिखे होते हैं, उन्हें आप भले ही घटिया कहें मगर कभी-कभी वह दिल को छू जाने वाले भी होते हैं। जैसे कि- "यह वक़्त भी गुज़र जाएगा!"

वक़्त वाक़ई गुज़र गया, गुज़र रहा है और गुज़र जाएगा! बस अपने पीछे छोड़ी यादों से हमें किसी हाल छुटकारा नहीं। यादें ख़ुश करने वाली हों, दुख देने वाली हों, हँसाने वाली हों या रुलाने वाली रहेंगी साथ-साथ।

ख़ैर, उन यादों से जुड़े वह दिन और वह लोग हैं जिन्हें हम कभी नहीं भूल सकते। हमारी माँ के अनुसार यह बात तुम्हें कैसे अनजान, अजनबी जगह याद हो सकती हैं ? उस वक़्त तो तुम ढाई तीन साल की रही होगी। मगर उन यादों के नक़्श धुँधले होने के बावजूद उभरते रहते हैं।

तीन बड़े भाई बहन की पीठ पर हमारा चौथा नम्बर है। पिता जी सरकारी नौकर थे इसलिए तबादले उनका मुक़द्दर थे। पार्टिशन के समय उनकी पोस्टिंग इलाहाबाद या लखीमपुर में थी। वह एक ज़र-ज़र समय था। हर तरफ़ क़त्ल-व-ग़ारत के बाज़ार गर्म थे। जगह-जगह फ़सादात हो रहे थे। लोग भय की अवस्था में जी रहे थे। इतना सब तो सुना सुनाया याद है। किसी शहर में बलवा हुआ होगा। इलाहाबाद से लखनऊ आने वाली ट्रेन में हम लोग सफ़र कर रहे थे। माँ के अनुसार कम्पार्टमेंट में भी बड़ा तनाव था। उन्होंने इधर-उधर से आती हुई आवाज़ों से किसी ख़तरे की बू महसूस कर ली होगी। हमारी बड़ी बहन जिनकी उमर उस समय सात बरस थी, कान में चुपके से कहा कि अगर कोई नाम पूछे तो कमला, बिमला बताना। कुछ भी न हो, दिलों में ख़ौफ़ था।

अब्बू के तबादलों की वजह से हम लोगों को छोटे-बड़े सभी शहरों में रहने का मौक़ा मिला। इन सब शहरों में लखीमपुर, और इलाहाबाद की यादें बहुत धुँधली हैं। लखीमपुर में जिस जगह हम लोग रहते थे वह "पेपर फ़ार्म" कहलाता था। वहाँ सिंचाई के लिए बनाई गई छोटी-छोटी नहरें याद हैं। या फिर अपने घर का टीन का वह सायबान याद है जिस पर लौकी की बेलें फैली थीं और वहाँ से लगभग इतनी बड़ी लौकियाँ उतरती थीं, जैसे चार-पाँच साल का बच्चा हो। फिर अम्मी उन लौकियों को फ्राक पहना कर, व नकली आँखें नाक बना कर हमें खेलने को देती।

इलाहाबाद में केवल वह कोठी जिसमें हम लोग रहते थे, वह पीले रंग की थी और नागी साहब की कोठी कहलाती थी। वहाँ की एक मेम साहब याद हैं जिनका मुर्गा नीचे उतरते ही हमारे पैर पर झपट पड़ता था। फिर सुना है हम चहकों, पहकों रोते मुर्ग को- "मेम साहब का उल्लू मुर्गा" गाली देते ऊपर आ जाते थे।

संदीले का गुज़रा समय काफ़ी हद तक याद है। ख़ास तौर से बहुत बड़े तालुक़ेदार एज़ाज़ साहब की कोठी। उसका वह गजर! ("गजर" लिखते समय गीता दत्त का वह गाना

याद आ जाता है-सुनो गजर क्या गाए, समय गुज़रता जाए) उस वक़्त यह क्या मालूम कि वह गजर वक़्त न थमने की आवाज़ है। एज़ाज़ रसूल साहब का ख़ानदान तो बिलकुल याद नहीं। शायद वह वहाँ रहते भी नहीं थे उस समय। वे दोनों मियाँ बीवी एक्टिव पॉलिटिक्स में थे, इसलिए लखनऊ में रहते होंगे। लेकिन उनके भाई अफ़ज़ाल रसूल साहब, उनका सरापा, उनके बेटे-बेटियाँ अच्छी तरह याद है। सबसे बढ़कर तो उस ख़ानदान का हुस्न-व-जमाल सभी ख़ूबसूरत, एक से बढ़कर एक। उनके दो बेटे इत्तिहाद रसूल हाशमी निकनेम जम्मू-इनाम रसूल हाशमी नम्मू कहे जाते। यह दोनों भाई हमारे बड़े भाई के जिगरी दोस्त हैं। हमारे परिवार का एक अंग हैं। यह ख़ानदान भी पहले हिजरत करके ईस्ट पाकिस्तान जा बसा, लेकिन अभी बसने भी न पाया था कि उजड़ गया, और एक बहुत प्यारी जवान होती हुई बच्ची और अपनी ख़ूबसूरत बहू को ख़ाक-व-ख़ून के हवाले कर पाकिस्तान के "दिल" कराची में जा बसा। न ख़त्म होने वाली यादों न भरने वाले ज़ख़्मों और हिजरत दर हिजरत की कड़ियों में एक कड़ी और जुड़ गई।

लखनऊ में कोई हमारा अपना घर नहीं था। हमारा आबाई घर काकोरी में था। (वह क़स्बा जिसका आज़ादी की जंग में बहुत बड़ा रोल था) इस तरह लखनऊ के बहुत से मुहल्लों जैसे मछली मोहाल, घसियारी मंडी, रकाब गंज, राजा बाज़ार, फ़िरंगी महेल और पुल झाऊलाल में रहे।

लखनऊ के ऐसे बहुत से मुहल्ले हैं जहाँ थोड़े फ़ासले पर गली, कूचे या मोहल्ले के नाम बदल जाते हैं। ऐसे ही गोला गंज का एक मुहल्ला, "झाऊलाल का पुल" था। पुल झाऊलाल में हमारा घर था। कहते हैं यह राजा झाऊलाल का आबाद किया हुआ मुहल्ला था। गोला गंज काफ़ी दूर तक फैला हुआ है। मगर आप अमीनाबाद से आइए तो जगत नारायण रोड (जहाँ तक हमें मालूम है यह सड़क जनाब जस्टिस आनन्द नारायण मुल्ला, कवि, साहित्यकार, बुद्धिजीवी, पूर्व मेयर, लखनऊ, के पिता के नाम पर ही रखा गया है) और बीच में मक़बरा फिर थोड़े फ़ासले पर बलरामपुर अस्पताल है। यह मक़बरा बचपन से देखते आ रहे हैं, "राकेट लांड्री" आज भी मौजूद है।

हमारा घर जिस गली में था उसके आस-पास सिन्धी, पंजाबी, रिफ़्युजीज़ के बहुत से घराने आबाद हो चुके थे। इसके बाद हाजरा आपा (बेगम वली उल हक़ अन्सारी) का घर था। यह घराना विद्या की खान था। भाई-बहन, भांजे, भांजियाँ सब दिन-रात पढ़ाई में मग्न और जब पढ़ाई का सिलसिला ख़त्म हुआ तो पढ़ाने का शुरू हो गया। यह घराना हमारा "पहला मकतब" (पाठशाला) था। हाजरा आपा की माँ जिन्हें हमें जहाँ तक याद हैं सब बाजी कहते थे वह हमें क़ाएदा (क़ुरआन के लिए बेसिक किताब) पढ़ाती थीं। एक बार वह बावरची ख़ाने या अपने किसी दूसरे घरेलू काम के लिए उधर थीं। उनकी सिलाई, टँकाई का सामान, सूई, धागा, कैंची, तिलेदानी (महिलाओं के सूई धागा रखने का छोटा सा पर्स) सब उस तख़्त पर रखा रहता था। उस ज़माने में मेज़ कुर्सी पर बैठ कर पढ़ने का रिवाज़ कम था। सर्दियों के दिनों में बाहर आँगन में बड़े-बड़े तख़्त उन पर बिछी सफ़ेद चाँदनी, या फिर पलंगों पर ही पढ़ने बिठा दिया जाता था। पढ़ने में किसका दिल लगता था। पढ़ने में कम, खेल में ज़्यादा। हमारा हाल भी कुछ ऐसा ही था। जैसे ही मौक़ा मिलता नज़रें किताब से हट कर दूसरी ओर। ऐसी ही एक दिन जब वह इधर-उधर थीं, हमने उनकी

कैंची उठा कर अपनी फ्राक के सारे गोले (पोलका डॉट उस समय क्या होता है, क्या जानें) काट डाले। बाजी ने देखा तो सर पीट लिया। डाँटे (और शायद एक धप भी पड़ी) जाने पर "मुंकाड़ा" (मुँह खोल कर रोना) मचा दिया।

हाजरा आपा के घर के बाद एक बूढ़ी मेम साहब का घर था। उसी के सामने आफ़ंदी साहब का घर था। बचपन में जो एक अजीब सी इच्छा होती है कि फ़लाँ घर में झाँक कर देखें। चाहे छत से झाँको, चाहे दीवारों से लटक कर (मॉरल वैल्यूज़ क्या होती है, यह सब हम क्या जानें)। उधर से जब भी गुज़रते, दिल चाहता अंदर जाकर देखें। एक बुज़ुर्ग साहब मोटे से फ्रेम का चश्मा लगाए बैठे अख़बार पढ़ते दिखाई देते। यह घर कुछ बंद-बंद अँधेरा सा था। हमेशा वही साहब नज़र आते। उस ज़माने की अपनी ज़बान में कहें तो अजीब "भूतहा" घर लगता (अंदर का शारलक होम कुलबुलाने लगता) शायद वही आफ़ंदी साहब हों। गली के बिलकुल आख़िरी सिरे पर शानदार कोठी "महमूद मंज़िल" (जो आज भी वैसी ही बाहर से दिखाई देती है) है।

पुल झाऊलाल के जिस घर में हमारी यादें फली फूलीं, वह हमारे चचा का घर था। वह खुद कानपुर में रहते थे। यह बहुत बड़ा शानदार दो मंज़िला मकान था। नीचे बड़े-बड़े हाल जिनके सफ़ेद-काले टाइल्ज़ के फ़र्श, बहुत बड़ा आँगन और उसमें लगा हुआ बहुत बड़ा अनार का दरख़्त। सारे कमरों में मुज़ैक का फ़र्श। इसके नीचे के हिस्से पर सिन्धी रिफ़्युजीज़ का कब्ज़ा था। एक थे मिस्टर नाउमल उनका ख़ानदान, उनकी बेटी नानकी बहुत अच्छी तरह याद है, इसलिए भी कि जब नीचे के नल खुले होते, तो हमारे घर पानी बिलकुल नहीं आता। फिर हम और हमसे बड़े भाई (हम लोग नई-नई शरारतें ईज़ाद करते) सुर ताल से कहते- "नानकी बम्बा बन्द करदो, नानकी बम्बा बन्द करो" चिल्लाते रहते और कभी-कभी यह सदा छोटी मोटी जंग में बदल जाती। वैसे तो पूरे मुल्क, पूरे शहर पर इनको जहाँ-जहाँ मौक़ा मिला, क़ब्ज़ा करते गए थे। या इन्हें दावे में भी नवाबों, रईसों की बड़ी-बड़ी हवेलियाँ देहली और लखनऊ में ख़ास तौर पर मिलीं। जब चचाजान के नीचे के घर पर ये लोग क़ाबिज़ हो गए, तो उन्होंने इस ख़ौफ़ से भी कि कहीं ऊपर भी क़ब्ज़ा न हो पाए हमारे वालिद को यह घर सौंप दिया था। वह कहीं से लखनऊ तबादला होकर आए थे, मकान ढूँढ़ भी रहे थे। उन लोगों की आँखों में हमारे लिए बहुत नफ़रतें थीं और क्यूँ न होतीं। अनीस अन्सारी की कविता के इस बन्द के अनुसार-"वो जो अपनी ज़मीं से निकाले गए।" फिर यह फैलते गए। आज के लखनऊ के प्रसिद्ध चौधरी चाट वाले भी वहाँ एक कमरे में गुज़र-बसर करते थे। इन नफ़रतों की आग को वह इस घर को निशाना बना कर निकाल रहे थे। वह ख़ूबसूरत फ़र्श पर पत्थर का कोयला कूटते, धोबी का पाँटा लगाते, कंडे पाथते, कोई भी ऐसा काम करने में उन्हें कोई लिहाज़ नहीं था। वह शायद इस आग को (जो उनके दिलों में लगी होगी) यूँ ठंडा करते थे। इन्हें बदले की भावना व्यक्त करने का यह तरीक़ा सुकून देता होगा।

लेकिन हम बच्चे वहाँ भी घुसे रहते। उनकी पूजा के स्थान पर भी। वहाँ रंगीन तस्वीरों और मूर्तियों के आगे दिए जलते थे। घंटी बजती थी, कृष्ण जी और भोले नाथ के गले में साँप पड़ी तस्वीरें हमें अट्रैक्ट करती थीं। विशेष रूप में कृष्ण भगवान् के जन्म पे जब "झाँकियाँ" सजती थीं- उनका झूला, झूले में लेटा छोटा सा गुड्डा, खीर से पैदा होते हुए उनके भगवान्, दही में हलदी मिला के बँटती हुई उनकी "घिया", हमें इससे कोई वास्ता नहीं कि क्या सही है क्या ग़लत, हमें तो बस उनकी रंगीनियाँ अपनी तरफ़ खिंचती थीं। लेकिन फिर भी हम रहे मुसलमान के मुसलमान। उस वक़्त न हम शिया थे, न सुन्नी, न देवबंदी, न बरेलवी। उनके यहाँ भी उस समय न "शिव सेना" थी न "बजरंग दल", वह एक बहुत ख़ूबसूरत हिन्दुस्तान था।

हाँ इलेक्शन के ज़माने में बेशक कांग्रेस और जनसंघ की बातें होती थीं। फिर भी न बहुत इशतेआल (प्रोवोकिंग) अंगेज़ तक़रीरें, न नारे। न इतने रंगीन पोस्टरों की भरमार। दीपक वाला निशान जहाँ तक हमें याद है अटल बिहारी बाजपेयी जी का था, और हम सब बच्चे- "जीतेगा भई जीतेगा, दीपक वाला जीतेगा" या "झोंपड़ी को ओट (वोट) दो, फटा पुराना कोट दो ज़्यादा बोले ठोंक दो।" के नारे अपनी छत पर सुर-ताल के साथ लगाते, बिना यह जाने कौन किसका निशान है, बस गले फाड़ते रहते। नफ़रतें क्या होती हैं ? सियासत क्या है- हमें इससे कोई लेना-देना नहीं।

हमारे घर के पिछवाड़े "भैरवनाथ जी" का मंदिर था। हम लोग रहते ऊपर थे जबकि जो हमारे आने-जाने का रास्ता था, वह अलग था। उससे मिले एक कमरे पर उनका क़ब्ज़ा नहीं था। यह कमरा कुछ सीला-सीला, तहख़ाने की तरह ठंडा रहता था। वह हमारे बड़े भाई और उनके हिन्दू-मुसलमान सारे दोस्तों की बैठक थी। जहाँ हमारे जवान होते हुए भाई और उनके दोस्त बड़ों से छिप कर सिगरेट के सुट्टे लगाते थे। जब वह और उनके दोस्त चले जाते, तो हम और हमसे डेढ़ दो साल बड़े भाई उनकी सिगरेटों के सारे टुर्रे बटोर कर या काग़ज़ की नक़ली सिगरेट बना कर पैर पर पैर चढ़ाए बड़ी शान से नक़ली धुँआ निकालते थे।

भैरव जी का यह मंदिर उस मुहल्ले की शान था। एक बहुत बड़े मैदान के सिरे पर था यह मंदिर। मैदान के बीचों-बीच पीपल का एक बहुत बड़ा और घना दरख़्त था। किसी त्योहार के अवसर पर यहाँ बहुत सी महिलाएँ जमा होती थीं। जगह-जगह पर छोटे-छोटे चूल्हे बनते। इनमें कंडे जला कर उसकी आग पर छोटी-छोटी रोटी बल्कि रोटी नहीं कहा जाना चाहिए लोई बना कर उन्हें सेंका जाता। पीपल की मोटी सी जड़ में महिलाएँ मोटा धागा लपेटती जातीं और चलती जातीं उसके गिर्द। हम लोग अपनी छत से बेहद शौक़ से ये सब देखते थे। यह एक बड़ी पूजा थी जो केवल महिलाएँ करती थीं।

एक बात जो अक्सर अखरती है वह यह कि किसी नफ़रत की बुनियाद पर नहीं बल्कि हमेशा से पीपल के पेड़ को हिन्दुओं का पेड़ माना गया और मुसलमानों में यह भी एक धारणा थी कि पीपल के पेड़ पर भूत-चुड़ैल रहते हैं। इस तरह यह पेड़ या शायद चूँकि

इसकी पूजा की जाती है, यह पेड़ "हिन्दू" बन गया और इसी तरह गेंदे का फूल भी। और बटवारे से पहले ही यह भी "सीमाओं" में बँट गए। हिन्दुस्तान में बचपन से मंदिरों में गेंदे के फूल और मज़ारों पर गुलाब ही चढ़ते देखा है। ऊपर वाले ने तो कभी यह सोचा भी नहीं होगा।

ख़ैर, जो भैरवनाथ के इस मंदिर के गेट पर एक बहुत बड़ा सा कुआँ था। यह कुआँ और मंदिर हमारी ख़ुशियों का मरकज़ (केन्द्र) था। यानी हमारा और हमारी बड़ी बहन का। होता यूँ था कि जब सहालक (शादियों की) शुरू होती तो नए शादी शुदा जोड़े को पहले इस मंदिर में पैर फिराने लाया जाता। इसके बाद दूल्हा-दुल्हन दोनों को कुआँ झँकवाया जाता। एक रोचक कहानी यह भी कही जाती थी कि दुल्हे की माँ कुएँ की जगत पर बैठ कर बेटे से यह प्रण लेती थी कि शादी के बाद यदि उसने माँ का ख़याल न रखा तो वह इसी कुएँ में कूद कर जान दे देगी। इस कहानी में कितनी सच्चाई है यह नहीं मालूम। घर के नौकर चाकर ऐसी ख़बरें लाते थे। हम लोगों को तो उस वक़्त बैन्ड बाजे के साथ बारात, दूल्हा, दुल्हन के सर पर रखा हुआ मौर-रंगबिरंगी पन्नियों से झिल मिल करता, दुल्हन के लच्छे, पट्ठे से झिलमिलाते लहँगे, दुपट्टे, उनके जेवरात दुनिया की सबसे हसीन चीज़ लगते थे। उस ज़माने में मुसलमानों में तो ज़्यादातर दिन में शादी का रवाज़ था, मगर हिन्दुओं में हमेशा से रात में ही शादियाँ होती थीं।

बचपन में अगर कभी जल्दी सो गए और बाजी ने बताया कि तुम तो जल्दी सो गई थीं, रात में बड़ी धूम-धाम वाली चार बरातें आई थीं। दिल पर सख़्त चोट लगती, क्योंकि वह इतने गौरव से कह रही होतीं जैसे वह हमारी इस महरूमी के मज़े ले रही हों। वैसे भी हम लोग आधे-आधे धड़ से लटक कर नीचे सड़क के नज़ारे करते। अगर हम में से कोई एक किसी काम में लगा होता तो दूसरा चिल्लाता- जल्दी आओ, जल्दी आओ, दिखाना यह होता कि गोरी चिट्टी पंजाबी महिलाएँ धूप-छाँव, सुरय्या, आँख का नशा, ईचक दाना-बीचक दाना या मख़मल के लम्बे-लम्बे जम्पर के शलवार सूट में गुज़रती

थीं, पाउडर, सुर्खी (उस समय हम लोग लिपिस्टिक, ब्लश जैसी कोई चीज़ नहीं जानते थे) लगाए, हमें तो वह हीरोइनें लगती थीं। यह छोटी-छोटी, मासूम ख़ुशियाँ ही हमारे लिए सब कुछ थीं।

इसके अतिरिक्त दो मौकों का पूरे साल इंतज़ार रहता था- एक भैरोनाथ जी के मंदिर का मेला जो मंदिर और हमारे घर की सड़कों और मैदान में लगता था। यह मेला हमें यहाँ तक याद है सावन भादौं में लगता था। इस मेले में खिलौने, प्लास्टिक और पीतल, तांबे के बुन्दे, हार, चूड़ियाँ, रंगबिरंगे फुन्नों वाली चोटियाँ, रिबन क्या कुछ नहीं मिलता था। खाने की चीज़ों में मिठाइयाँ, गुड़ के सेव, गजक, लय्या, चूड़े, अगरस यह सब चीज़ें ख़रीदने के लिए बेताब रहते थे। इसके अलावा लाउडस्पीकर पर उस ज़माने के गाने। वह फ़िल्मी गाने जिनका एक अलग ही मज़ा था, क्योंकि उस समय तक रेडियो भी इतना आम नहीं था। बड़े-बड़े घरानों में ही रेडियो होता था। दफ़्ती के एक बड़े डब्बे को काट कर, उसमें बटन लगा कर हम लोग यह शौक पूरा करते थे। जो सिन्धी फ़ैमिली नीचे आबाद थी उनके यहाँ रेडियो था। आकाशवाणी की मखसूस धुन जब बजती तो उस पर थिरकते थे, या तलत महमूद की गाई ग़ज़ल- "तसवीर तेरी दिल मेरा बहला न सकोगी," पर भी जान जाती थी। हमारे घर ग्रामोफ़ोन था। जो समय के लिहाज से स्टेट्स सिम्बल था। जिस पर हमारी माँ सहगल, कमला झारिया, शमशाद बेगम, बरकत अली खाँ, बड़े ग़ुलाम अली खाँ, अख़्तरी बाई (आज की बेगम अख़्तर) जोहरा बाई अम्बाले वाली, पंकज मलिक आदि को सुना करती थीं। रिकार्ड के आख़िर में- "मैं हूँ अख़्तरी बाई फ़ैज़ाबादी," "मैं हूँ ज़ोहरा बाई अम्बाले वाली" सुनने में बड़ा मज़ा आता था। उस वक़्त हमें इनकी कोई क़दर न थी। उस समय तो- लाल दुपट्टा मल मल का, जैसे गाने ही गाते थे।

दूसरा अवसर दीवाली, दशहरे पर होने वाली "रामलीला" का था। हमारे घर के एक कमरे की छत जो खुली छत कहलाती थी और वह छत भैरौं जी के मंदिर के मैदान की ओर थी। उस छत से रामलीला बहुत अच्छी तरह से देख सकते थे, मंच बिलकुल सामने होता था। इस छत पर जाने के लिए कोई सीढ़ी नहीं थी। छोटी सी मुंडरिया के ज़रिये एक दूसरे के कंधे पर पैर रख कर छलाँग मारते थे। शाम से ही तैयारियाँ शुरू हो जाती थीं। घर में उस समय नौकरों की कमी नहीं थी लेकिन अम्मी अच्छी-अच्छी चीज़ें पका कर रखती थीं। केवल घर वाले ही नहीं दूर-पास मुहल्लों में रहने वाले ख़ाला, मामू, चाचा आदि के बेटों, बेटियों को भी नेवता जाता और चूँकि थोड़ी ठंड होती बिस्तर-बिछोने सब ऊपर पहुँच जाते।

इस नाटक की ख़ास बात यह थी कि इसमें कोई स्त्री भाग नहीं ले सकती थी। सारे पात्र, सीता जी, पार्वती, सूर्पनखा या कोई भी हो छोटे-छोटे सुन्दर लड़के ही इनका रोल अदा करते थे। उस समय तफ़रीह ज़रिये बहुत सीमित थे। सिनेमा हाउस में पहुँचना हम लोगों की पहुँच से दूर था। लाल बाग़ महल्ले में हमारे मामूँ, ख़ाला रहते थे, जिनके घर से "बसन्त" "नोवेलटी", "मेफ़ेयर" आदि सिनेमा हाउस क़रीब थे, बस वहाँ कभी-कभी किसी नौकर के साथ जाकर दिलीप कुमार, राजकपूर, मधुबाला निम्मी इन सब के पोस्टर्ज़ देख कर ही अरमान पूरे कर लेते थे। या कभी स्कूल में कोई डाक्युमेन्ट्री या सड़क के नुक्कड़ पर प्रोजेक्टर द्वारा कोई इसी प्रकार की फ़िल्म देख लेते थे।

हमने अपने बचपन में अपनी बुआ (आया) के बेटे-बहू के साथ जीवन की पहली फ़िल्म "मिस माला" देखी थी। सब भाई-बहनों में केवल हमें यह एज़ाज़ हासिल हुआ था। हम बुआ के बहू-बेटे के बहुत चहेते थे। भौजी यानी उनकी बहू हमें अपने साथ लेकर गई थीं। होता यूँ था कि उस ज़माने में छोटे तबक़े के लोगों में दूल्हे का अपनी दुल्हन को फ़िल्म दिखाना गोमती नदी, छोटा इमामबाड़ा, बड़ा इमामबाड़ा, बेलीगारद (रेज़ीडेन्सी, चिड़िया घर) की सैर कराना, शादी के बाद की प्राथमिकता में शामिल था। (गोया कि यह हनीमून पीरियड हो) भौजी ने बताया कि- "बिट्या आधी फिल्लम देख, तुम सोए गई रही।" उसके बाद तो आए दिन झुटिया, नुचव्वुर, लाठी डंडा और "फ़ारख़ती" वाला सीन पाट शुरू हो जाता था। यह शब्द "फ़ारख़ती" क्या थी? इसका ओरिजन हमारे ख़याल से "फ़ारिग" कर देना था, पानी छोड़ देना, तलाक देना आदि। क्योंकि हमारी बुआ सरपंच की तरह रिश्तेदारों या गली मुहल्ले में किसी मियाँ-बीवी का झगड़ा चुका कर आती और अम्मी को देर होने का कारण बताती कि- "हुवा फ़ारख़ती की नौबत आए गई रहै, सुला सफ़ाई कराए के आए हन!"

रामलीला, रावण दाह, होली, दीवाली, मोहर्रम, चहेल्लुम के अवसर पर बाहर भेजे जाते थे, वह भी घर का कोई बड़ा या नौकरों-चाकरों के साथ भेजे जाते थे। मोहर्रम के महीने में लखनऊ के दोनों इमाम बाड़े, शाहनजफ़ वग़ैरह में बड़ी सजावट होती थी। आग का मातम, मेहंदी, ज़रीह, ताजिये देखना जाना ज़रूरी था। हमारी बुआ का बेटा बहुत सुन्दर ताज़िये बनाता था। उसके ढाँचे से लेकर आख़िरी पन्नी की ज़ड़ाई तक का मंज़र आज भी आँखों में घूम जाता है। ज़्यादातर पहले मोहर्रम से घरों में छोटे-बड़े बहुत ही ख़ूबसूरत बटुवे सिये जाते थे। लचका, गोटा लगे हुए रंग बिरंगे, बटुओं में भुना हुआ नारियल, सौंफ, सुपारी आदि भर कर हम सब बड़ी शान से अपने गलों में बटुवे डाले निकलते थे।

हमारे अब्बू नमाज़ रोज़े वाले, थोड़े संयमी थे, मगर हमारी अम्मी को "फ़ुनून-ए-लतीफ़ा" (फाइन आर्ट्स) से बहुत लगाव था। अब्बू हम लोगों को कभी रोकते नहीं थे। यह दूसरी बात है कि वह इन बातों में शामिल न हों। एक मिडिल क्लास मुसलमान घराने की सारी वैल्यूज़ हमारे यहाँ थीं। न जब हमारा इसलाम "ख़तरे" में होता न हम अपने संस्कारों से पीछे हटे। हमारे बड़े भाई, रिश्ते-नाते के भाई अपने हिन्दू-मुसलमान, शिया, सुन्नी दोस्तों के साथ ईद-बक़रईद, होली, दीवाली, जमघट आदि में भरपूर भाग लेते थे।

अमीनाबाद के गंगा प्रसाद मेमोरियल हाल में २६ जनवरी और १५ अगस्त के अवसर पर बच्चों के प्रोग्राम होते थे "सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा" तथा नेशनल साँग गूँजते थे। (हमारे कट्टर पाकिस्तानी भाई-बहन अल्लामा इक़बाल की इस "हरकत" पर बड़ा मुँह बनाते हैं) यह सिलसिला आज भी जारी है।

अमीनाबाद के झंडे वाले पार्क (अमीनुद्दौला पार्क) में रात से सुबह तक १२ रबी उल अव्वल (प्राफ़ेट मोहम्मद साहब का जन्म दिवस) पर मीलाद होता। न कोई दंगा न फ़साद, न किसी बात पर "फ़तुवे" जारी होते। न मसलक न फ़िक़्ह, इन सब बातों से दूर सीधा सादा "दीन" था।

हमारे घर के साथ जो घर मिला हुआ था, वह घराना था जिसकी ख्याति न केवल भारत तक सीमित थी बल्कि दूर-दूर तक फैली हुई थी। घराना था "द-शम्भू महाराज" का और इनका परिवार जिसके चश्म-ए-चराग़ भविष्य का वह जगमगाता सितारा बनने जा रहे थे, जिसने अपनी मेहनत और लगन से कथक को एक नया, रूप प्रदान किया।

यह थे बिरजू महाराज- हम सबके बिरजू भय्या। हमारे घरों के बीच केवल एक पतली सी गली थी। हमारे घर के एक कमरे की खिड़की जिस कमरे की ओर खुलती थी, यह वह कमरा था जहाँ बिरजू भय्या के घुँघरू बँधे पैर तता थई-तता-थई के साथ तबले, हारमोनियम पर रियाज़ किया करते थे।

बिरजू भय्या के पिता शम्भू महाराज हम सब के चाचा जी थे। लम्बा क़द, बड़ी-बड़ी ख़ुमार भरी आँखें। अधिकतर सफ़ेद कुरते-पाएजामे ही पहने देखा था उन्हें। जब कभी "अंगूर की बेटी" की क्वान्टिटी ज़्यादा हो जाती, तो पूरा घर सर पर उठा लेते। डरी-सहमी चाची जी, घबराई सी जिया और डरे सहमे बिरजू भय्या कोनों-ख़ुदरों में छिपते फिरते। फिर जब अच्छे मूड में होते तो सारों के चेहरे खिल उठते।

एक छोटी लड़की फ्राक पहने, सर पर सुर्ख रिबन का फूल बाँधे और एक थोड़ी बड़ी, दो मोटी-मोटी चोटियाँ बाँधे शलवार, जम्पर, छोटी सी उढ़निया ओढ़े चाचा जी की छत का नज़ारा करते (ये लड़कियाँ हम और हमसे बड़ी बहन थी)। शम्भू चाचा की न केवल शोहरत थी बल्कि पूरे इलाक़े में उनका बड़ा रोब-दबदबा भी था। उनका सदर दरवाज़ा उस सड़क पर था, जहाँ से अंदर को आने वाली भैरव जी रोड शुरू होती थी और मेन रोड जो अमीनाबाद से शुरू होकर बलरामपुर अस्पताल तक जाती थी। अक्सर वहाँ कुर्सी डाले चाचा जी बैठते थे।

कत्थक क्या होता है? उसके अंदाज़ क्या होते हैं? यह सब कुछ नहीं जानते थे। हमें तो बस घुँघरुओं की झनकार और- तता थई-तता थई अपनी ओर खींचती थी। उनके घराने के बारे में हमारी माँ बहुत कुछ जानती थीं। शम्भू महाराज के पिता (शायद) लच्छू महाराज और दादा बिन्दादास थे। अम्मी बताती थीं कि ये लोग बताशों पर नाचते थे और बताशे टूटते नहीं थे। उस समय यह कोई जादुई मामला लगता था। इतनी अक़्ल कहाँ थी कि यह समझ सकें कि उनके पैरों की जुंबिश, एक-एक थाप, एक ऐसे दायरे से बाहर नहीं निकलती थी कि जहाँ वाक़ई बताशों के ढेर होते थे। ख़ैर यह तो था उनके फ़न का कमाल।

शम्भू चाचा बड़े वज़ादार (संस्कारी) आदमी थे। अपने संस्कारों का उन्हें बड़ा पास था। उनकी बेटियों में से उस समय तक किसी ने कत्थक की तालीम नहीं हासिल की थी। उस ज़माने में महिलाओं का एक दूसरे के घरों में जाने का रिवाज़ कम था। चाचा जी के घराने की महिलाओं से हमारा संबंध "दिवलिया" (यह वह छोटी मुंडेर वाली दीवार थी जिस पर लटक कर हम उनकी खुली छत का नज़ारा

कर सकते थे) भर का था। जब उस ओर से चाची जी (जो अधिकतर घूँघट लिए रहती थीं) जिया या बिरजू भय्या हमें देखते तो हम शरमा कर नीचे बैठ जाते थे।

एक लम्बी गाड़ी चाचा जी के गेट के पास कभी-कभी रुकती थी। उस गाड़ी से लम्बी, गोरी, सुन्दर एक महिला "पट्टे कटे" (उस ज़माने में तराशे हुए बालों को यही कहा जाता था) धूप का चश्मा लगाए उतरती थीं। उन्हें क़रीब से देखने के लिए हम लोग बेचैन रहते थे- वह थीं "बेगम पारा" जो कत्थक की तालीम हासिल कर रही थीं। जब उनके घर के क़रीब से गुज़रते तो घुँघरुओं की छन-छन पर दिल लहालोट हो उठता।

उस ज़माने में आजकल जैसे हालात नहीं थे कि बच्चों को घर से निकलने न दिया जाए। हम लोग अपनी टाफ़ी, कम्पट, सेव, दालमोठ, अमरस आदि ख़रीदने के लिए ख़ुद ही जाते थे। उस समय पड़ोस और मोहल्लेदारी का जो कॉन्सेप्ट था वह यह कि पड़ोसी के बच्चे को लोग अपना बच्चा समझ कर डाँट या समझा सकते थे और बच्चे के माँ-बाप बुरा नहीं मानते थे। उस वक़्त घर में हमारी बुआ के अतरिक्त और भी नौकर-चाकर थे मगर अपने हाथ से चीज़ों के ख़रीदने का मज़ा ही कुछ और था। इसके अलावा ताज़ा दूध, झाग निकलता हुआ अपने सामने दुहा लाने के लिए हम और हमसे कुछ बड़े भाई बेचैन रहते। शम्भू चाचा के घर से गुज़रते दो-चार घर छोड़ कर पंजाब के रिफ़्यूज़ी परिवार का भैंसों का बहुत बड़ा बाड़ा था। हम एक बड़े से मुरादाबादी नक़्शी, क़लई से झिलमिलाते ग्लास में सिक्के उछालते वहाँ जाते और बिना किसी मिलावट के अपने सामने दूध दुहा कर लाते। कभी-कभी ग्लास पर लिखा यह शेर- साक़िया इतनी पिला दे कि महकते जाएँ / हम वो कमबख़्त नहीं हैं कि बहकते जाएँ, ख़ूब लहक-लहक कर गाते। पढ़ तो पाते नहीं थे, बस अम्मी की ज़बानी सुना था कि "नक़्श-व-निग़ार" के अलावा इस पर यह शेर भी लिखा है। शेर समझने वाली औक़ात अभी कहाँ थी।

एक बार ऐसी ही किसी मुहिम पर रवाँ-दवाँ थे कि चाचा जी के घर से आने वाली तता

थई की आवाज़ ने क़दम आगे बढ़ने से रोक दिये। सोचा मौक़ा अच्छा है, चलो आज अंदर ताक-झाँक कर आते हैं। फिर धीरे-धीरे उनकी ड्योढ़ी से अंदर तक चल गए। कोने में खड़े हम वह सभा देख ही रहे थे कि उनकी नज़र हम पर पड़ी। वह क़रीब आए और उन्होंने जोर से डाँटा- "यहाँ क्या कर रही है? चल बिट्या, यह तेरे आने की जगह नहीं है। बाबू जी ने देख लिया तो नाराज़ होंगे।" एक ही डाँट में सारा शौक़ रफ़ू चक्कर हो गया। बाबू जी वह हमारे पिता को कहते थे। वह इंजीनियर थे। कोट-पैन्ट वाले उस समय बाबू जी ही कहलाते थे।

अपने घर के आगे कुर्सी डाल कर चाचा जी अक्सर बैठते थे। एक बार वह यूँ ही बाहर बैठे थे। हमें करमूल (मम्स) निकले हुए थे। पास बुलाया कि यह पट्टी क्यूँ बाँधे हैं, हमने उन्हें बताया तो कहने लगे-अंग्रेज़ी दवा खा रही होगी, हमने कहा, जी। उनकी रोबदार शख़्सियत से वैसे ही जान निकलती थी। कुछ बताते-बताते रुके, फिर कहने लगे, अच्छा जा किसी बड़े को भेज दे। हमारे हर दुख-दर्द का इलाज हमारी बुआ थीं। उन्हीं को लेकर आना था। हाँफ-हाँफ कर अम्मी को सारी बात बताई। बुआ को लेकर पहुँचे। उन्होंने बुआ को जो कुछ समझाया वह आज भी याद है- "देखो तुम बारुद ख़ाने वाली फ़लाँ गली से जब निकलो, तो जब अमीनाबाद शुरू होता है, उसके बाद ख़याली गंज की फ़लाँ-फ़लाँ गली में जाओ। नीचे बहुत सी दुकानें हैं। ऊपर जो बड़ा सा मकान हैं, दो तीन सीढ़ियाँ चढ़कर जाओ, यह हस्सो रंडी का घर है। वहाँ एक मोलवी साहब हैं, वह करमूल झाड़ते हैं। वहाँ बिट्या को ले जाओ, उनसे झड़वाओ। अंग्रेज़ी दवाओं का कोई फ़ायदा नहीं।"

बुआ हमें वहाँ ले जाती हैं। उस समय न सीढ़ियों से ऊपर जाने वाले "कोठे" के बारे में न कोई जानकारी, न यह मालूम कि वहाँ का माहौल क्या है? यहाँ की सच्चाइयाँ क्या है? इनकी क्या मजबूरियाँ हैं? यह कौन है? हाँ जिस समय चाचा जी बुआ को बता रहे थे, तो उन्होंने गाली (रंडी) जैसी क्यूँ बकी? हाँ हमारी धुँधली यादों में वहाँ की सजावट (जब बड़े हुए तो फ़िल्मी सेट जैसी) आज भी ताज़ा है- बड़े-बड़े हाल में सफ़ेद चाँदनी, सुर्ख़ क़ालीन, चमकती हुई झालरों वाले गाव तकिये, चूड़ियों के टुकड़ों और मोतियों की लड़ों से बने पर्दे। दिन "सुन्सान" रातें "पुर रौनक़"। बुआ मोलवी साहब को बताती हैं-

"शम्भू महराज जी भेजिन हैं हमका, लौंडिया के करमुल झड़वाए खातिर।"

बड़े भाई से बिरजू भय्या के अलावा भी बहुत लड़कों से दोस्ती थी। उस दौर में लड़कों का दोस्तों के घरों में आने-जाने का रिवाज कम था। लेकिन बाहरी बैठकों में सबका आना-जाना और जान-पहचान थी। हमारे बड़े भाई उस वक़्त लखनऊ के बेहतरीन स्कूल (शायद कॉनवेन्ट) सेन्ट मेरीज़ में पढ़ते थे। उनकी दोस्ती अपने मुहल्ले के हिन्दू, मुसलमान सभी लड़कों से थी, जिनमें एक बड़ा नाम हबीब भाई यानी- हबीब अशरफ़ का भी था (जो इंडियन एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विसेज़ से जुड़े और आजकल दिल्ली में पोस्टेड हैं)। दूसरे लड़कों से, जो कबूतर बाज़ी का शौक़ रखते थे उनमें भी बड़ी अच्छी दोस्ती थी। उनमें से कोई भी पक्के "कबूतर बाज़" नहीं थे, मगर सबके पास झुंड के झुंड कबूतर थे। सबके घरों पर छतरियाँ थीं। जहाँ से वह हुशकाए या बिठाए जाते। कभी-कभी छेड़ख़ानी के तौर पर एक दूसरे के कबूतर फँसाने के लिए "लासा" (एक गोंद की तरह की चिपकाने वाली चीज़ जो छतरी पर लगा दी जाती थी) लगा कर एक दूसरे के "लक्का",

"शीराज़ी" "चितकबरा" फँसाए जाते। ढुँढ़य्या शुरू हो जाती और फिर किसी लड़ाई-झगड़े के बिना एक-दूसरे को वापस कर दिए जाते। कबूतरों की सबसे बड़ी पहचान उनके पैरों के तांबे, पीतल या कभी चाँदी के घुँघरू होते थे।

कबूतरों का शौक़ रखने वालों में सबसे बड़ा नाम रामचंद्र भय्या का था। इनका घराना बहुत अमीर, खाता-पीता घराना था। इनके पिता मालिक का चिकों और ख़स की टटियों के बनाए जाने का बहुत बड़ा कारोबार था। उस मोहल्ले में उनका बनने वाला नया घर, ग्रे कलर का, दो मंज़िला, जिसमें चमकते हुए पीतल के खम्बे थे। उस ज़माने के लिहाज़ से यह बहुत ही महँगा और ख़ूबसूरत मकान था। वहीं से रामचंद्र की शादी बड़े धूमधाम से हुई थी। मगर दुर्भाग्यवश तीसरे या चौथे दिन मालिक चल बसे। और बहू "सब्ज़ परी" ठहरी। वैसे भी हिन्दू समाज में बहू की क़दर कम ही होती थी, चाहे वह कितना भी दहेज लाए।

रामचंद्र लाओबाली (लापरवाह) निकले, पीने-पिलाने में पड़ कर अपने को तबाह कर लिया। बेचारी आने वाली मनहूस कही गई। आर्थिक हालात बिगड़ते हैं, तो सब कुछ बिगड़ने लगता है।

दूसरे थे- "भगौती भय्या" यानी भगवती, मगर सब भगौती ही कहते थे। उनकी ख़ास पहचान थी कि वह गली से काफ़ी तेज़ आवाज़ में उस समय का कोई मशहूर गाना गाते हुए गुज़रते थे-"बरसात में हमसे मिले तुम, सजन तक धिनाधिन", "ऐ मेरे दिल कहीं और चल", "हवा में उड़ता जाए" आवाज़ बहुत अच्छी होने के साथ दर्द भी बहुत था।

मगर बिरजू भय्या की ज़ात एक अलग हैसियत, एक अलग पहचान रखती थी। वह हमारी माँ को चाची जी कहते थे (वह ज़माना आंटी का नहीं था) एक बार कहने लगे- "चाची जी जेबा (ज़ेबा) को कथक सिखवाइए इसे बड़ा शौक़ है।" फिर ख़ुद ही हँसने लगे। वह जानते थे कि ऐसा नहीं हो सकता। वह देखते थे कि छह-सात साल की यह लड़की किस तरह खिड़की पर बैठी तबले, हारमोनियम और घुँघरुओं की आवाज़ से ख़ुश होती। बिरजू भय्या की आवाज़ भी बहुत अच्छी थी। वह फ़िल्मी गाने और ग़ज़लें ख़ास कर तलअत महमूद को बहुत गाते थे। फिर उनकी मंज़िल दिल्ली ठहरी। वह चले गए और अपने साथ उन हरे रंग वाली खिड़कियों की रौनक भी ले गए। वह उमर न प्यार की थी न मोहब्बत की पर न जाने क्यों हम उदास हो जाते। जब कभी साल पीछे बिरजू भय्या आते, खिड़कियाँ खुल जाती, रौनक़ें लौट आतीं।

फिर बिरजू भय्या की शादी तय हो गई तो हम लोग इतना ख़ुश हुए जैसे अपने किसी सगे भाई की शादी हो। चाची जी (बिरजू भय्या की माँ) ने अम्मी को एक बड़ा सा गुलाबी रंग का थान भेजा कि- "भावज इसमें आठ-आठ, दस-दस साल की लड़कियों के ग़रारे, जम्पर सी दीजिये।" छोटे-छोटे ग़रारे, जम्पर सिले, गोटा-लचका, लगाया गया। (ये सूट शायद परिवार की छोटी बच्चियों को पहनौनी देना होगी)।

बिरजू भय्या की बारात कहाँ गई? कब दुल्हन आई? यह सब कुछ याद नहीं। हाँ याद है तो उनका "बहू भोज" उस ज़माने में घर (ख़ासतौर से हिन्दुओं के) कुछ इस तरह के बनते थे कि छत जो आँगन में खुलती थी, उसके चारों ओर छोटी मुंडेरें होती थी। इस तरह नीचे आँगन वाला हिस्सा खुला और ऊपर से दिखाई देता था। उनकी दुल्हन सिकुड़ी, सिकुड़ाई लम्बा घूँघट निकाले, लाल-लाल जोड़े में गहने पहने बैठी थीं। उस समय लम्बे घूँघट का इतना रिवाज़ था कि हम बच्चे बैठ-बैठ कर उनका मुँह देख रहे थे। बचपन में दुल्हन बनने का इतना शौक़ होता है कि दिल चाहता है बस इसी समय दूल्हन बन जाएँ। ख़ैर हम लोग पूरी, कचौड़ी, मिठाइयों से छक कर छत पर कुदक्कड़ लगाने आ गए।

शादी के बाद एक बार बिरजू भय्या दिल्ली से लखनऊ आए हुए थे। ईद का मौक़ा था। बड़े भाई ने उन्हें सेवइयाँ खाने की दावत दी। ईद के मौक़े पर न केवल सेवइयाँ बल्कि और भी मज़ेदार चीज़ें बनाई जाती हैं। बड़ी-बड़ी आँखों वाले, माथे पर बालों की लट पड़ी, ऑफ़ व्हाइट सिल्क का कुर्ता पाएजामा, हाथ में सुनहरी घड़ी पहने, दुबले-पतले बिरजू भय्या अब थोड़े मोटे हो गए थे।

खाने के बाद अम्मी ने उनके आगे पानों से भरा ख़ासदान बढ़ाया, जहाँ तक हमें याद है वह पानों के भी बहुत शौक़ीन थे। चाँदी के ख़ासदान रखना उस ज़माने में आम घरों में भी रिवाज़ था। उन्होंने दो गिलौरियाँ मुँह में रख लीं। उस समय (और शायद आज भी) हमारे और उनके कल्चर में पान बाँधने का तरीक़ा भिन्न था। वहाँ पान को तिकोनी शकल में लपेटा जाता है, जिसे "बीड़ा" कहते हैं। जबकि मुसलमानों में यह कोन की शकल में बनाया जाता है और इन्हें "चुंगलों" में रखा जाता है। शादी ब्याह के अवसर पर ये चुंगले बनाने का काम घर की लड़कियों के सुपुर्द किया जाता था। जबकि बड़े-बड़े पानदानों से पान बनाने का काम मामाओं, असीलों से लिया जाता था। अमीर घराने में पान की गिलौरियों को चाँदी के वरक़ में लपेटा जाता था। आम दिनों में ये चुंगले सिगरेट की पन्नियों से बनाए जाते थे। वरना आम तौर पर अख़बार के काग़ज़ से बनाए जाते थे। बिरजू भय्या ने जब गिलौरियाँ मुँह में रखीं, तो वह चुंगलों के कारण चबाए न चबीं। वह कहने लगे- चाची जी हमने जाना, आपने चाँदी का वरक़ लपेटा है। वह भी और हम लोग सब हँसे। हम लोगों ने कहा- यह मज़ाक आपके साथ भाभी जी की तरफ़ से हुआ है।

२००९ में जब लखनऊ जाना हुआ, तो हम रोक न सके अपने को। यह तो मालूम था बिरजू भय्या अब दिल्ली के हो रहे हैं, मगर घर तो देख लेंगे, कोई तो होगा। उनके घर पहुँचे, तो यह देख कर बहुत दुख हुआ कि उनका घर का नीचे का हिस्सा लगभग टूट चुका था। गेट के आगे खंज्जड़, बजरी और कूड़े का ढेर था। लखनऊ, वह शहर जिसको ऐसे लोगों का शहर कहलाने पर गर्व होना चाहिए था, उसके घर की यह हालत? वहीं किसी से पूछा, तो मालूम हुआ कि शम्भू महाराज की एक बेटी उस घर में (जिसका रास्ता दूसरी ओर से था) रहती हैं। वह हैं मुन्नी महाराज, जो लखनऊ के किसी कॉलेज में रक़्स (नृत्य) की तालीम देती

हैं। मुन्नी महाराज से मिल कर बेहद ख़ुशी हुई। वह उस समय शायद पैदा भी नहीं हुई थीं। उन्हें कुछ नहीं याद था। जैसा कि हम लिख चुके हैं कि चाचा जी के घराने में महिलाओं ने इस मैदान में क़दम नहीं जमाए क्योंकि वह रवायती घराना था। मगर सच यह है कि समय के साथ-साथ क़दरें बदलती हैं और अब भारत में औरत को इज़्ज़त की निगाह से देखा जाता है। मुन्नी जी हमारी यादें सुन कर बहुत ख़ुश हुईं। फिर वह अपने पिता के बारे में बहुत कुछ बताने लगीं। एक क़िस्सा उन्होंने अपनी माँ के सख़्त परदे में रहने का सुनाया। वह ख़ुद हँस-हँस कर बता रही थीं। चाचा जी की बेशुमार शागिर्दाओं में आशा पारेख भी हैं। चाचा जी के देहान्त के बाद किसी ख़ास मौके पर उनकी पत्नी की हैसियत से चाची जी को बुलाया गया था। वह बड़ी उमर में भी अपना घूँघट नहीं हटाती थीं। आशा पारेख ने बहुत चाहा कि वह अपने गुरु की बीवी को देखना चाहती हैं, जिस पर वह राज़ी नहीं हो रही थीं। आशा पारेख के इतना चाहने पर बेटी मुन्नी जी ने उनका घूँघट ज़रा उठा कर उनका चेहरा आशा पारेख को दिखा दिया। पता नहीं बाद में या उसी समय (यह याद नहीं) उन्होंने मुन्नी जी को एक थप्पड़ रसीद किया- "हमारा मुँह काहे खोला? हरामज़ादी!" हम लोगों ने चाचा जी की बड़ी सी तसवीर के साथ तसवीरें खिंचवाईं।

उस मुहल्ले की रोचक यादों में एक याद आज भी नहीं भूलती है। एक साहब जाड़े-गर्मी, बरसात काले रंग का सूट पहन कर भैरवनाथ जी रोड से हफ़्ते-पंद्रह दिन में ज़रूर गुज़रते थे। कहाँ से आते थे कहाँ जाते थे यह कुछ मालूम नहीं। काला सूट और हैट अब काला न रह कर मटमैला सा हो चुका था। जब वह गुज़रते तो गली मुहल्ले के सारे लौंडे-लफ़ाड़ी उनके पीछे-पीछे नारे लगाते- "रुपै में पौने चौदह आने, रुपै में पौने चौदह आने।" यह थी उनकी चिढ़। न जाने इस नारे के पीछे क्या कहानी थी, मगर वह ग़ुस्से में आगबबूला मुड़-मुड़ कर लड़कों को अंग्रेज़ी में गालियाँ देते, थोड़ी दूर दौड़ते और फिर मुँह ही मुँह कुछ बड़बड़ाते गुज़र जाते। हम लोग भी उस

उमर में मज़े ही लेते थे।

एक अजीब कॉन्सेप्ट हमारे यहाँ बरसों से चला आ रहा है वह यह कि बहुत लोगों को यह कहते सुना है इस प्रकार के लोगों के विषय में कि- "ये आदमी अंग्रेज़ी में एम.ए. है, अब पागल हो गया है।" या यह कि फ़लाँ आदमी बहुत पढ़ा-लिखा था, पढ़-पढ़ कर पागल हो गया है। कुछ ऐसी ही बातें इन सूटेड-बूटेड साहब के बारे में भी कही जाती थीं। उनका क्या बैकग्राउंड है? कौन हैं, यह सब जानने की क्या ज़रूरत थी? वह तो बस हम नादानों के लिए हँसी का पात्र थे।

हमारे घर के सामने दो बहुत ही ऊँचे-ऊँचे मकानों के बीच एक बहुत पतली गली थी। गली के दोनों ओर ग़रीब-गुरबा की आबादी थी। गली के आख़िरी सिरे पर जो मकान था, वह धर्मवीर भारती के कहानी संग्रह के शीर्षक- "बंद गली का आख़िरी मकान" जैसा था। यह घर "दसेहरी हाउस" कहलाता था। उसे दसेहरी हाउस क्यों कहा जाता था? इसकी जानकारी आज तक न हुई। गली में होने के बावजूद वह एक बहुत शानदार घर था। यह लखनऊ के बहुत ही किसी मोअज्ज़िस शिया ख़ानदान का घराना था। जिन बच्चों के साथ वहाँ खेलने जाते थे वे कौन थे? कैसे थे? कुछ याद नहीं। याद है तो बस वहाँ की सजावट, भव्य गृहस्थी। बड़े-बड़े दालान, शहनशीं (बड़ी-बड़ी हवेलियों में बंद और ठंडे कमरे) आदि। ख़ास तौर से वह "अज़ाख़ाना" (शिया अपने घरों में ग़म मनाने के लिए करबला की घटना को दर्शाने वाली चीज़ों को रखते हैं) जहाँ रखे बड़े-बड़े अलम, ताज़िये, ज़रीह, चाँदी के पंजे, छोटे-छोटे जगमगाते ताज़िये आज भी निगाहों में बसे हैं। दूसरी यादों में वहाँ की महिलाएँ- गोरी-गोरी, बड़ी-बड़ी आँखों, काले-खुले बालों, काले कपड़ों वाली सैदानियों का सरापा इसलिए भी आँखों में महफ़ूज़ है कि मोहर्रम के दिनों में वहाँ हमारा आना ज़्यादा होता था। उनकी मज़लिसें, खाने-पीने की फ़रावानी (अधिकता) हज़रत क़ासिम की मेहँदी, अली असग़र का झूला, बचपन में और क्या चाहिए?

उस ज़माने में हमारे घर में एक नई खाना पकाने वाली बुआ रखी गई थीं। जिनका संबंध रुदौली से था। आठ-दस, काले-काले बच्चों की माँ हमारे घर के अतिरिक्त "दसेहरी हाउस" में भी काम करती थीं। वह अपने बच्चों के साथ आतीं, जो दो-चार हमेशा उनके साथ चिमटे रहते थे। बुआ की आँखें बड़ी-बड़ी, साँवला रंग, घूँघर वाले बाल हमें बहुत अच्छे लगते थे। उनकी एक बेटी जो हमारी उमर की थी उसका नाम मआविया था। उन बुआ का क्या नाम था? यह कोई नहीं जानता था। सब उन्हें मआविया की अम्मा ही कह कर संबोधित करते थे।

एक बार हमारी अम्मी ने बुआ से पूछा- "दसेहरी हाउस में तुमसे कभी किसी ने पूछा कि तुम्हारी बेटी का नाम किसने रखा है?" बुआ कहने लगीं- "पूछत तो रहैं, मुला हम कहेन- ढेर से तो बच्चे हैं, कोनो रख दिहिस हुइये।" नाम को लेकर न कोई झगड़ा, न नफ़रतें, सब अपने-अपने मसलक (पथ), अपनी फ़िक्र (स्कूल ऑफ थाट्स) पर जमे। जियो और जीने दो वाला हिसाब।

इस घर की चर्चा इस लिए भी बहुत महत्त्वपूर्ण है कि- कोई जगह है जिसे "पाकिस्तान" कहते हैं। वहाँ लोग जा रहे वहाँ क्यूँ चले जाते हैं? क्या वहाँ इससे भी अच्छा घर है और अगर इससे भी अच्छा घर है तो......।

जारी अगले अंक में...

000

पहाड़ मुझे बड़े आत्मिक लगते हैं

रेखा भाटिया

चाहे कोई मुझे जंगली कहे , कहने दो जी कहता रहे ! पहली बार चित्रहार में शम्मी कपूर को काश्मीर की बर्फ भरी वादियों में झूमते, गाते, मस्ती में लुढ़कते देखा। बर्फ से ढके पहाड़ों का जादू सिर चढ़ गया और मन कहता क्या सचमुच प्रकृति की गोद में मन जंगली बन झूमने लगता है? दूसरी बार देखा शम्मी जी का गीत "तारीफ़ करूँ क्या उसकी" दीवाना बना गया। प्राकृतिक सौंदर्य में मन प्रेमी हो जाता है ,सुंदरता रूमानी और आत्मा को रूहानियत का बोध होने लगता है। यह हरियाली और यह रास्ता, ये हसीन वादियाँ , तू मेरे सामने, ज़रा-सा झूम लूँ मैं ..... बड़े होते बॉलीवुड की फिल्मों को देखते पहाड़ों से, बर्फ से एक तरफा प्यार, एक खिंचाव हो गया। जीवन के सपने फ़िल्मी हो गए , कोई हीरो होगा जीवन में , हम प्रेमी बंजारे, हम एक पहाड़ी पर और वह दूसरी पहाड़ी पर। हमारी एक आवाज़ से वादियाँ पार कर भागा चला आएगा। भारत में वैष्णव माता के दर्शन कर लिए ,पहाड़ वही देखे जीवन में और विदेश प्रस्थान हो गया। फ़िल्मी सपने जल्द ही हकीकत में धुआँ हो गए और हम पहाड़ भूल गए।

अमेरिका में वर्जीनिया से आना था पाँच घंटों की ड्राइविंग कर जनवरी की चरम शीत ऋतु में नॉर्थ कैरोलाइना के शहर शार्लोट में। पता चला यह शहर दक्षिण में है और ठंड कम पड़ती है। सन् 2000 में न मोबाइल था ,न जीपीएस , कागज़ का नक्शा हाथ में लिए चल पड़े गंतव्य पर। घने, गदराये बादल ,हल्की बारिश और हड्डियों को जमा देने वाली ठंड। शार्लोट से पचास मील दूर थे अचानक बर्फ पड़ना शुरू हो गई। जो रास्ता एक घंटे में तय होना था, पूरे छह घंटों का सफ़र बन गया, शाम छह बजे के बजाय रात बारह बजे पहुँचे। सुनसान सड़कें, बारह इंच बर्फ की चादर ओढ़े एक गुमशुदा शहर में प्रवेश किया। सड़कें, पेड़, घर सब बर्फ में डूब चुके थे और उस बर्फ में धँस गईं उम्मीदें "चाहे मुझे कोई जंगली कहे "। भूख-प्यास से व्याकुल किसी तरह अपार्टमेंट में पहुँचे। बर्फ गिरने का जंगली असर असल जीवन में क्या होता है, सुबह सारा शहर बंद पड़ा था।

जल्द ही शार्लोट शहर मेरा अपना शहर बन गया। इस मेट्रो शहर की खूबसूरती इसकी लोकेशन में है। यहाँ से समुद्र तीन घंटे दूर और पहाड़ दो घंटे की दूरी पर हैं। जब पास के शहर "ऐशवील" और आसपास के पहाड़ों के बारे में सुना। मन का शम्मी कपूर "जंगली" बन बल्ले-बल्ले करने लगा। एक तरफा पुराना प्यार फिर से जाग उठा। यहाँ से शुरू हुआ एक रूमानी यायावर सफ़र जैसे-जैसे इस एरिया को जानना, पहचानना शुरू किया। यहाँ की सभ्यता के अनुसार वीकेंड पर शहर के बाहर छुटियाँ बिताने का चलन प्रचलित है और अधिक समय गँवाए बिना दो घंटों में पहाड़ों पर पहुँच जाएँ तो सोने पर सुहागा। दो घंटों में बहती नदियाँ, बड़ी झीलें, सैकड़ों झरने, फूलों भरी वादियाँ, घने जंगल, अनगिनत पर्वत मालाएँ , पंछी, तितलियाँ, असंख्य वन्य प्राणी, समृद्ध वन्य जीवन से मन कैसे अछूता रहता। यहीं से अध्यात्म की समझ और पकड़ भी गहरी होने लगी।

ब्लू रिज माउंटेन्स पर 2000 फ़ीट से अधिक की ऊँचाई पर बसा ऐशवील शहर पड़ाहों की गोद में बसा एक बहुत सुन्दर शहर है। शहर के आँगन में जंगल है या जंगल के आँगन में शहर है, शहर को देखकर यह अंदाज़ा लगाना मुश्किल हो जाता है। पिसगाह नेशनल फारेस्ट में बसा यह शहर कभी चैरोकी कबीले (अमेरिका के मूल लोग) के एरिया का हिस्सा था। फिर यूरोपियन सेटलर्स अमेरिका आए और अमेरिका की क्रांति के बाद सन् 1985 में कर्नल डैविडसन और उसके परिवार को ब्लू रिज माउंटेन्स की घाटी "स्वानानोआ" में बहुत सारी ज़मीन दी गई और इस तरह भविष्य के ऐशवील शहर की नींव पड़ी। सन् 1880 में रेल ट्रैक बन जाने के बाद यहाँ

रेखा भाटिया
9305 लिंडन ट्री लेन,शार्लोट ,नॉर्थ कैरोलाइना - 28277, अमेरिका
मोबाइल- 704-975-4898
ईमेल- rekhabhatia@hotmail.com

की आबादी 10000 हो गई। पहाड़ों पर बसा होने की वजह से पहाड़ों पर छुटियाँ बिताने और स्वास्थ्य लाभ के लिए लोगों का आना बढ़ने लगा। सन् 1800 से ऐशवील की ख्याति खोजकर्ता और कलाकारों में बढ़ने लगी थी। जो आज तक कायम है। इसके इतिहास में सबसे प्रसिद्ध पलायन रहा "जॉर्ज वेंडरबिल्ट" का। उन्होंने 1,20,000 एकड़ ज़मीन खरीद कर सन् 1895 में अमेरिका के सबसे विशाल 250 कमरों वाले खूबसूरत महलनुमा प्राइवेट घर "बिल्ट्मोर स्टेट" का निर्माण करवाया। जॉर्ज कला और प्रकृति प्रेमी थे। बिल्टमोर स्टेट के चारों ओर कई सुन्दर बगीचे हैं। अमेरिका सिर्फ 250 साल पुराना एक नया देश है। यहाँ भारत और यूरोप की तरह महल, क़िले नहीं हैं। ऐशवील शहर की इमारतों का वास्तुशिल्प अट्ठारवीं सदी की यूरोपियन वास्तुकला जैसा है, इस वजह से शहर का डाउनटाउन यूरोप के किसी शहर जैसा लगता है और बीच बहती नदी इस शहर की खूबसूरती को अद्वितीय बना देती है। शहर में आर्ट और आर्टिस्टों को समर्पित आर्ट रिवर स्ट्रीट, कई आर्ट म्यूज़ियम्स और आर्ट गैलरीज़ हैं।

ऐशवील के बीचों-बीच ब्लू रिज माउंटेन्स से "ब्लू रिज पार्कवे" हाईवे जाता है। यह हाईवे नॉर्थ कैरोलाइना की रीढ़ की हड्डी है। ब्लू रिज अमेरिका के सबसे सुन्दर दर्शनीय हाइवे में से है। 496 मील लम्बा पार्कवे ऊँचे पहाड़ों और सैकड़ों मील फैले आठ जंगलों के बीच से दो राज्यों में से गुज़रता है। इसे "पिकनिक हाईवे" भी कहा जाता है। इस पर ट्रक नहीं चलते, एग्ज़िट्स बहुत कम होते हैं। पहाड़ों के मध्य गुज़रता यह हाईवे शहर के डाउनटाउन के अगले एग्ज़िट जैसे शहर के दिल से गुज़रता है और यहाँ से स्वर्ग-सी खूबसूरत प्रकृति का द्वार खुल जाता है। विश्वास करना मुश्किल हो जाता है बीस मिनटों की ड्राइविंग में 3200 फ़ीट ऊँचाई में फर्क आ जाता है। पहाड़ों, वादियों, झरनों, झीलों, विशाल खड़ी ढालू चट्टानों के मध्य से बहते, लहराते झरने ऊँचाइयों पर और तलहटी में झिलमिलाती झीलें। अत्यंत मनमोहक

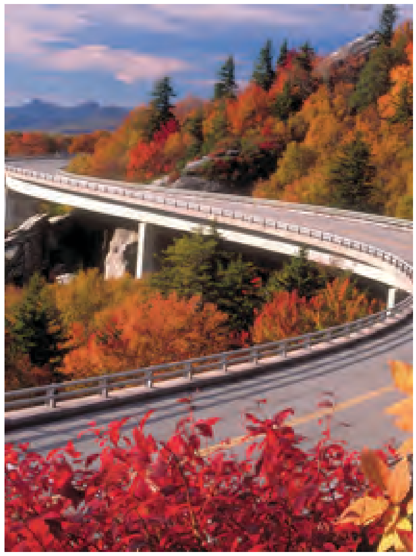

वातावरण में प्रकृति से नज़रें मिलते ही गूस बंप खड़े हो जाते हैं, उल्लास में चीखें निकलती है और आप अपने नैसर्गिक रूप में आ जाते हो। उन क्षणों में जिनमें उम्र का अंक बेमायने हो जाता है, हर आयु वर्ग के प्रकृति की गोद में आकर बच्चे बन जाते हैं। कभी-कभी मैं सोचती हूँ प्रकृति के सामीप्य में इंसान कितना सच्चा हो जाता है, विस्मय में अपने होने का असली अर्थ खोजने लगता है। झरनों के साथ कई बड़ी नदियाँ बहती हैं। जगह-जगह विस्टा पॉइंट्स हैं जहाँ रुककर पार्किंग लॉट से या थोड़ी दूर हाईकिंग कर प्रकृति के खूबसूरत रूप का आनंद उठाया जाता है। इस हाईवे पर 6000 फ़ीट या अधिक ऊँचाई के 125 पर्वत हैं जिनमें से 32 पर्वत शिखर नॉर्थ कैरोलाइना में हैं जिनकी ऊँचाई 6000 फ़ीट से अधिक है। पर्वतों को काटकर बीच में से लम्बी-लम्बी टनल बनाई गई हैं और पार्कवे की 32 टनल नॉर्थ कैरोलाइना में हैं।

यहाँ की पर्वत श्रृंखलाएँ नीले रंग की दिखती हैं, इसीलिए इन्हें ब्लू रिज माउंटेन्स पुकारा जाता है। बहते झरनों के शीतल जल में प्राकृतिक स्विमिंग होल्स हैं। प्रमुख वॉटरफॉल "लिनविल वॉटरफॉल", स्विमिंग होल "स्लाइडिंग रॉक", प्रमुख झील "फ़ोन्टाना लेक", 411 फ़ीट सबसे ऊँचा "अपर वाइट वॉटरफॉल"। इनमें लिनविल वॉटरफॉल को इस क्षेत्र का "नाइग्रा फाल्स" और लिनविल क्षेत्र को यहाँ का "ग्रैंड कैनियन" पुकारा जाता है। 390 लाख पुरानी प्रमुख चट्टान "लुकिंग ग्लास रॉक" सफ़ेद ग्रेनाइट की 3969 फ़ीट ऊँची चट्टान है ,वैज्ञानिकों के अनुसार यह एक "प्लूटोन" रॉक है। ऐशवील शहर से उतर-पूर्व में "माउंट मिचैल" पर्वत जिसकी ऊँचाई 6684 फ़ीट है। यहाँ हाईकिंग ट्रेल्स पर चलते लगता है आप बादलों के बीच हैं। बहुत ऊँचाई होने से इसका तापमान ऐशवील से 15-20 डिग्री कम होता है। यहाँ की वनस्पति,पक्षियों और जानवरों की कई प्रजातियाँ साउथ कनाडा बाद यहीं पाई जाती हैं। ब्लू रिज छह पर्वतमालाओं से होकर गुज़रता है।

ग्रेट स्मोकी माउंटेन्स के बीच है "ग्रेट स्मोकी नेशनल पार्क"। हर साल अमेरिका में सबसे अधिक पर्यटक इसी नेशनल पार्क में आते हैं। इसका मुख्य कारण है यहाँ का प्राकृतिक सौंदर्य, अछूते वन और पतझड़ का मौसम। ग्रेट स्मोकी माउंटेन्स के "चेरोकी" गाँव में आज भी चेरोकी मूल के वंशजों ने उनके पूर्वजों की धरोहर और संस्कृति को संरक्षित रखा है। ब्रायसन सिटी से ट्रेन पकड़ कर ग्रेट स्मोकी माउंटेन्स के रमणीक सौंदर्य में पहाड़ों, जंगलों के बीच बहती नदियों में कयाकिंग, बोटिंग, टुबिंग और फिशिंग करते लोगों को निहारते यहाँ के इतिहास से भी परिचित होते हैं। कहते हैं प्रकृति ने नॉर्थ कैरोलाइना को सुंदरता वरदान में दी है लेकिन "पानी के स्रोत" जिनमें कई जल क्रीड़ाएँ की जा सकें उपहार में दिए हैं।

मेट्रो सिटी ऐशवील के आसपास कई वाइनयाड्र्स और वाइनरी (ताज़ी शराब बनाने का स्थान) हैं। यहाँ स्नो स्किंग, स्नो टुबिंग के लिए कई रिसॉर्ट्स हैं। इसके अलावा जिपलाइन, ट्री हाउस में रात बिताना चाहेंगे तो यह शहर आपकी प्रतीक्षा कर रहा है। मीलों फैले हरी घास के मैदानों में पहाड़ों पर चरती गाएँ, बकरियाँ, प्यारे-प्यारे गाँव, घर, लहराते खेत किसी बॉलीवुड की फिल्म का परफेक्ट दृश्य !कोई ताज़े फल, सब्जियाँ तोड़कर आपको गर्म-गर्म रेस्टोरेंट स्टाइल में परोसे तब? यहाँ आप यह अनुभव भी ले सकते हैं और घूमने आए हैं, तब सूर्यास्त में पहाड़ों के पीछे वादियों में आसमान की सतरंगी, लाल,

नारंगी छठा में डूबते सूर्य को विदा कर शहर लौट आइए। ड्राइव करते वक्त चिड़ियों के झुंड आसमान में, उनकी चहक हवा में संगीत छेड़ती है, आप थके हुए भी तरोताज़ा महसूस करेंगे। शहर के डाउनटाउन में शॉपिंग के सैकड़ों स्टोर्स और प्रसिद्ध रेस्तोरां हैं।

इस इलाके में ऐशवील से ब्लू रिज पार्कवे से होते हुए दूसरे शहर "बून" तक ड्राइव कर सकते हैं। दोनों शहरों के बीच बहुत खूबसूरत 1247 फ़ीट लम्बा घुमावदार "लिनविल कोव वायाडक" ब्रिज है। ग्रैंड फादर माउंटेन से साँप की तरह लिपटे इस ब्रिज की ख़ासियत यह है यह हवा में झूलता प्रतीत होता है।यह ब्रिज हमारे प्रदेश का एक सिंबल बन गया है। पहाड़ों के मध्य में बसा बून छोटा-सा बहुत ही खूबसूरत शहर है। प्राकृतिक छटा की अनुपम कृति "बून" जैसे प्रकृति के पास बहुत समय हो इसे गढ़ने के लिए। यहाँ यहाँ लिनविल गुफा और ग्रैंडफादर माउंटेन बेजोड़ हैं। लिनविल वॉटरफॉल भी पास है।

पतझड़ से वास्ता - इस समूचे इलाके में यूरोप की वनस्पति से दोगुने प्रकार की वनस्पति पाई जाती है। वर्षा की मात्रा ,तापमान और विविध वनस्पति के कारण यहाँ पतझड़ में पेड़-पौधों की पत्तियाँ गिरने से पहले विविध रंग बदलती हैं। जब मौसम का मिज़ाज बदलता है तब पेड़-पौध लाल, पीले, नारंगी, बादामी, बेंगनी रंग ओढ़ लेते हैं और यहाँ की सम्पूर्ण सृष्टि एक अद्भुत पेंटिंग में बदल जाती है और दूर सैकड़ों मीलों तक पहाड़ों और घाटियों में इन मादक दृश्यों को देखने सैलानियों की मीलों तक भीड़ जमा हो जाती है। प्रकृति के सान्निध्य में हर कोई आनंद लुटता प्रसन्न होता है। इन्हीं अनुभवों में एक और मादक अनुभव ऐशवील से एक घंटा ड्राइव पर केटेलुची वैली में बहुत सारे एल्क (हिरन की एक प्रजाति जो अधिक शिकार के कारण लगभग विलुप्त हो गई थी) पाए जाते हैं और यह सीजन उनके समागम का मौसम होता है। नर एल्क मादाओं को रिझाने का प्रयास करते हैं और बिगुल जैसी आवाज़ निकाल मादाओं का पीछा करते हैं, बहुत उग्र हो जाते हैं। प्रकृति की यह लीला देखने बढ़ी

संख्या में पर्यटक आते हैं। हमें पता नहीं था, पत्तियों के बदलते रंगों का पीछा करते हम अचानक यहाँ पहुँच गए थे। यहाँ वन्य जीवों की असंख्य प्रजातियाँ पाई जाती हैं।

अध्यात्म की ओर झुकाव - सालों पहले एक बार शार्लोट के क्रॉप स्कूल से बच्चों की फील्ड ट्रिप में "सोमेश्वर टेम्पल-माउंट सोमा" जो ऐशवील से पैंतालीस मिनट दूर है , वहाँ जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। परम सुन्दर स्थान पर एक पहाड़ पर शिवजी का नितान्त खूबसूरत मंदिर, जिसकी बनावट हूबहू दक्षिण भारतीय वास्तुशिल्प पर आधारित थी, सामने की पहाड़ी पर नंदी की विशालकाय मूर्ति जो मंदिर के द्वार के ठीक सम्मुख , तीसरी पहाड़ी पर हनुमान जी की विशालकाय मूर्ति, नीचे घाटी में बहता झरना "गंगा धाम" जिसमे शिवलिंग स्थापित था। एक बड़ा कैफिटेरिया, वहाँ भारतीय खाना परोसा गया। एक बड़ा सभागृह जिसमें ध्यान सिखाया जाता और वहाँ महर्षि माईकल मामास की एक सभा साथ आए परिवारों के लिए आयोजित की गई थी। तब मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, एक श्वेत महर्षि जिसे हिन्दू धर्म, ध्यान, वेद, योग का गहन ज्ञान है उन्होंने सत्संग किया फिर सभी के जिज्ञासु प्रश्नों के उत्तर बड़े ज्ञान ध्यान से दिए। मुझे बड़ा कौतुहल हुआ मेरे जीवन में यह पहला अनुभव था। यह वह समय था जब पश्चिम में आम लोगों का भी योग और ध्यान की ओर झुकाव बढ़ रहा था। विश्वविख्यात महर्षि महेश योगी जो स्वयं एक वैज्ञानिक थे, उन्होंने पश्चिम को ध्यान, योग और आयुर्वेद से परिचित कराया, ध्यान और योग की ख्याति सम्पूर्ण विश्व में रोशन की। महर्षि माईकल मामास उनके शिष्य थे, माईकल बाद में कई साल भारत में रहे, वहाँ उन्होंने उच्च वैदिक शिक्षा ग्रहण की, कई वर्ष तक साधना की। महर्षि महेश योगी कहा करते थे,"नॉर्थ कैरोलाइना के पहाड़ों में एक शिवलिंग है", महर्षि माईकल ने "सोमेश्वर मंदिर" की माउंट सोमा पर स्थापना की। इस मंदिर का सम्पूर्ण निर्माण वैदिक वास्तुकला के नियमों आधारित है, यह एक रिट्रीट सेण्टर भी है।

मुझे शुरू से ही प्रकृति से प्यार था। मंदिर जाना दैनिक जीवन में शामिल होने लगा और वहाँ की खूबसूरती से मैं स्वत: ही बँधती चली गई। मेरा पहाड़ों पर जाना बढ़ गया। कभी मंदिर का बहाना, कभी घूमना। एक परिचिता के साथ कई आश्रमों में रिट्रीट के लिए गई। जैसे भीतरी खज़ाने की चाबी मिल गई। एक बार मौका मिला बून में चार दिनों का मौन रिट्रीट करने का। मुझे लगा मौन का मतलब सिर्फ चुप रहना, बाद में जाना उसे कैसे करना है, विचारों को कैसे सँभालना है और शुरू हुई मेरी यात्रा। एकांत में शाम को सामने पहाड़ों के ऊपर आकाश में सूरज ढलने से पहले छाई लालिमा में दो विपरीत दिशाओं से, अलग रंगों और आकार के बादलों को उड़ते देखा, अलग-अलग ऊँचाई पर ! मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। पहाड़ों की वर्षा का पैटर्न मैं जान गई थी। लेकिन उस शाम वर्षा नहीं हुई और बादल अपनी-अपनी दिशा में बिना बरसे चल दिए।

रात में घिर आए घने अँधेरे में जुगनू हर दिशा में चमक रहे थे और कई काले-छोटे तिकोने आकर के उड़ते पक्षी हर दिशा में उनका पीछा कर रहे थे, बालकनी की लाइट के पास आकर लौट जाते। प्रकृति में घटित इन विस्मयकारी घटनाओं की मैं साक्ष्य थी। मेरे आनंद का ठिकाना नहीं रहा, हम जो देखते हैं, जो सोचते हैं, कल्पना करते हैं, उससे भी अधिक देखने और समझने के लिए प्रकृति में है एक वरदान के रूप में।

000

व्यंग्य

यक्ष फिर हाज़िर है..!!

अलंकार रस्तोगी

इस बार भी मौका-ए-वारदात एक जंगल में थी लेकिन उसे वनवास नहीं बल्कि वाइल्ड लाइफ टूरिज़्म एन्जॉय करना कहा जाता था। इस बार भी पाँच लोग थे लेकिन वे भाई नहीं किसी एमएनसी की कोल्हू के बैल टाइप्ड नौकरी से त्रस्त होकर हफ्ते भर की जंगल यात्रा में निकले हुए दोस्त थे। इस बार भी उनसे प्रश्न उत्तर जारी थे लेकिन वह यक्ष नहीं फॉरेस्ट रेंजर महोदय के सामने खड़े थे। इस बार उसे प्रश्नोत्तरी नहीं बल्कि 'इंटेरोगेशन' कहा जाता था। पाँचों दोस्त जंगल में जानवरों के शिकार के शक में वन विभाग की गिरफ्त में आ चुके थे।

किसी म्यान में भले ही दो तलवारें न रह पाती हो लेकिन जंगल में शेर और रेंजर रूपी दोनों खूंखार प्राणी सहअस्तित्व में पाए जाते हैं। रेंजर साहब ने शेर से थोड़ा कम और इंसानों से काफी तेज़ आवाज़ में गरज कर उनसे पूछा –'अच्छा! तो तुम लोग जंगल में शिकार करने आए थे। जेल भेज कर सड़ा डालूँगा समझे। अगर मेरे सवालों का सही जवाब दोगे तो देखते हैं कि क्या हो सकता है।' रेंजर महोदय किसी दिव्य यक्ष की भाँति अपने विशालकाय शरीर को उस सरकारी कुर्सी में समाते हुए बोले जिसका अमूमन एक हाथ टूटा हुआ होता है इसका भी था।

'अच्छा चलो बताओ यह जंगल के बीचों –बीच क्या करने आए थे तुम लोग?'

'रीसर्च सर वाइल्ड लाइफ रिसर्च'..तार्किकता में युधिष्ठिर के कलयुगी वर्ज़न ने रेंजर को बरगलाते हुए कहा। 'सर हम लोग जानवरों पर ग्लोबल वार्मिंग के असर पर आँकड़े इकठ्ठा करने आए थे। भला ऐसे ही कोई क्यों जंगल आने लगा?'

रेंजर महोदय उसकी चालबाज़ी को समझते हुए भी नज़र अंदाज़ करते हुए अगले प्रश्न पर आये –'अच्छा तो तुम लोग यहाँ किस की परमिशन से आये हो, कोई परमिशन लेटर है तुम्हारे पास?'

'अरे साहब अब आपने पूछा है सही सवाल, हैं न बिलकुल हैं यह देखिए। (उस बन्दे ने जेब से अपना पर्स निकाला और दो हज़ार का नोट उसमें से निकाल कर रेंजर को दिखाते हुए कहा) अब रेंजर साहब का पारा सातवें आसमान पर पहुँचने का दिखावा करने लगा।

'क्या समझ रखा है तुमने यहाँ पर सिर्फ इस स्तर की परमिशन से काम चल जाएगा। बड़ा वाला आदेश लाना पड़ता है।'

'तुम्हें नहीं पता यहाँ ख़तरनाक जंगली जानवर होते हैं घर में बीबी बच्चे नहीं है क्या तुम्हारे?'

अलंकार रस्तोगी
448/733, बाबा बालक दास पुरम,
ठाकुरगंज, लखनऊ
मोबाइल- 9838565890
ईमेल- alankarrastogi271@gmail.com

'अरे सर सबसे बड़े जानवर तो वही हैं उनको झेल लिया अब किसी जानवर से डर नहीं लगता है।'

'हा हा हा'..रेंजर साहब की बनावटी हँसी से लगा मानों उसने उनकी दिल की बात कह दी हो।

'तुम्हीं बताओ अगर तुम्हारे जैसे लोग जंगल में किसी मुसीबत में फँस जाएँगे तो मैं अपने से ऊपर के लोगों को क्या जवाब दूँगा?'

'सर आपको क्या जवाब देना है यह आपसे बेहतर हम थोड़े ही जानते हैं। हमें तो बस इतना पता है कि जब जेब में गाँधी जी हों तो सारी मुसीबतें वह रफा –दफा कर देते हैं। कहिए तो जो गाँधीगिरी वाली शक्ति हमारी जेब में है वह आपकी जेब में ट्रांसफ़र कर आपको हमें यहाँ से जाने देने की शक्ति प्रदान कर दें।'

'गाँधी जी बात कह कर तुमने तो मुझे ख़रीद लिया भाई। लेकिन उनके दर्शन के अधूरे प्रदर्शन से केवल तुम्हें छोड़ा जा सकता है तुम्हारे दोस्तों को नहीं।'

'कुछ समझा नहीं सर, मुझे तो लगता था कि गाँधी का नोट दर्शन ही कलयुग में पर्याप्त है?'

'अभी तुम नादान हो, तभी इस दुनिया का सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है, तुम्हें नहीं मालूम?'

'नहीं सर मैं कुछ भी नहीं जानता हूँ आपसे बात करने के बाद तो मैं अपना नाम तक भूल गया हूँ आप ही इस 'सबसे बड़े आश्चर्य' वाले दर्शन का रहस्योद्घाटन कर दीजिए!'

'बच्चे! तो ध्यान से सुन लो। गाँधी दर्शन इतना भी आसान नहीं होता है। मात्र इसका पालन कर अगर सफलता मिलती होती तो बहुत लोग सफल हो जाते। गाँधी दर्शन तभी सफल होता है जब उसके साथ मदिरा का अर्पण भी किया जाता है।'

अब वह पाँचों रेंजर रूपी यक्ष को संतुष्ट कर वन विभाग की छाया, जेब में रखे गाँधी वाले नोटों की माया और बैग में रखी शराब की बोतलों वाली काया से मुक्त होकर वनवास से बाहर आ रहे थे।

000

लघुकथा

आपदा में अवसर

मुकेश पोपली

"हैलो", उसने मोबाइल की घंटी बजने पर कहा।

"सुनो, सुना है तुम रामप्रकाश पर कोई पुस्तक निकाल रहे हो?"

"हाँ, उनकी कविताओं का एक संकलन प्रकाशित कर रहा हूँ।"

"लेकिन मैंने तो आज तक उनकी कोई कविता नहीं पढ़ी। मैं पिछले बीस सालों से इस धंधे में हूँ।"

"उसने कभी कोई कविता लिखी ही नहीं तो फिर तुम पढ़ोगे कहाँ से?"

"क्या मतलब?"

"तुमने पिछले महीने श्यामप्रकाश की कहानियों पर एक किताब निकाली थी?"

"हाँ, निकाली थी। "कोरोना की डोज़।"

"लेकिन श्याम प्रकाश ने केवल कविताएँ लिखी, कहानी कभी नहीं।"

"तुम्हें कैसे पता?"

"अरे भई, मैं भी तीस साल से इस धंधे में हूँ।"

"ठीक है बड़े भाई, मैं समझ गया। इसका मतलब तुम भी एक छोटी सी पंक्ति साथ में लिख दोगे कि यह पुस्तक लेखक रामप्रकाश की कलम को हमारी ओर से श्रद्धांजलि है जिनका कोरोना की पहली लहर में देहांत हो गया था और यह कविताएँ बीमारी से केवल चंद रोज़ पहले उन्होंने हमें छापने के लिए दी थी। इस पुस्तक की बिक्री से उनके परिवार को आर्थिक मदद भी दी जाएगी। हा हा हा.....।"

"थोड़ा धीरे बोलो छोटे भाई। पहली लहर में तो तेरे श्यामप्रकाश ऊपर चले गए थे लेकिन मेरे रामप्रकाश तो ऑक्सीज़न की कमी के कारण दूसरी लहर में चल बसे हैं। और सुन, पुस्तक विमोचन पर श्यामप्रकाश की तीन-चार सौ किताबें भी ले आना, हाथों हाथ बिक जाएँगी। अपने शहर वाले मंत्री जी ने विमोचन के लिए हाँ कर दी है और उन्हें पचास हज़ार का चेक भी भिजवा दिया है।

"वाह, बड़े भाई। आपने भी 'आपदा में अवसर' ढूँढ़ ही लिया।"

000

मुकेश पोपली, स्वरांगन, ए-38-डी, करणी नगर पवनपुरी, बीकानेर-334003, राजस्थान

मोबाइल- 7073888126

ईमेल- swarangan38@gmail.com

व्यंग्य

हम बे रीढ़ ही भले

डॉ.अनीता यादव

जब से सोशल मीडिया का इजाद हुआ है तब से कुछ और हुआ न हुआ लेकिन सोशल मीडिया के व्हाट्सएप ग्रुप माध्यम से साहित्य की श्री वृद्धि बुलेट ट्रेन माफिक हुई है। पहले बाहुबलियों सरीखे ग्रुप तैयार हुए। फिर मैं मैं करने वाली बकरियाँ ग्रुप से जुड़ी। हालाँकि तू तू करने वाले बैल भी अनावश्यक रूप से जुड़ गए। परिणाम स्वरूप तू तू ,मैं मैं से साहित्यिक बगिया गुलज़ार रहने लगी। तू- तू, मैं -मैं का अगला कदम वायवीय धक्का-मुक्की, धिक्कार और कभी कभार जूतम पैजार सरीखी गतिविधियाँ होती रहती। इसके चलते ग्रुप का द्वार हमेशा खुला रहता। जो बैल सींग उलझाते उन्हें सिंह रूपी एडमिन द्वारा बाहर का दिशा दिखाने में देर नहीं की जाती। बकरियाँ 'चुपचाप चिड़ी का बाप' सरीखी सब देखती रहती। उस समय को हम काफी पीछे छोड़ आए जब आमने-सामने हाथ पैर चलाकर साहित्य निर्माण किया करते थे, बिल्कुल चुनावी रैलियों की भाँति।

ऐसे ही एक साहित्यिक व्हाट्सएप ग्रुप की मैं भी सौभाग्य से सदस्य बनी। रोज़ साहित्य का विकास होते हुए खुद अपनी आँखों से देखती। प्रसन्न होती और ग्रुप की सदस्य होने पर गर्व करती। मेरा भी उद्देश्य साहित्य का विकास था। ताकि भविष्य में साहित्य का इतिहास लिखते वक्त मेरा नाम भी दर्ज हो जाए। इस दर्जनामे हेतू मुझे बकरी बनना मंज़ूर था। एडमिन रूपी बंजारे को स्वीकृति देना मंज़ूर था। और तो और उसकी ज़ुबान रूपी कामची भी स्वीकृत थी। हिन्दी का खाते हैं उसके लिए इतना तो कर सकते हैं। केवल सितंबर का इंतज़ार क्यों करना?

बकरियों के रेवड़ का विधान होता हैं तो ग्रुप बकरियों के लिए क्यों और कैसे न होता? विधान था और विधान उल्लंघन कर्ता के लिए सुप्रीम कोर्ट जैसी सज़ा भी थी। ब्रह्मा, विष्णु, महेश से लेकर पृथ्वी की न्याय और कार्यपालिका की सभी शक्तियाँ एडमिन नामक कर्ताधर्ता में समाई थी।

पता नहीं कैसे एक दिन अचानक मुझे इतिहासबोध हुआ। मन में क्रांति की खुजली उठ खड़ी हुई और ग्रुप नियम के विरुद्ध अपनी रचना (जो एक मोहल्ले के अख़बार में प्रकाशित हुई थी) एडमिन की परमिशन बिना ग्रुप में साया कर बैठी। इतिहास बोध के बावजूद मुसोलिनी और हिटलर की छवि धारे एडमिन को जाने कैसे अनदेखा कर गई? बस! कुछ ही देर में मेरे निष्कासन का अल्टीमेटम ग्रुप की फिज़ा में कागज़ की चिंदी सरीखा तैर गया। इस दुर्घटना से मेरे अंदर जमा बैठा साहित्यकार बेचैन हो उठा। अब साहित्य विकास में मेरी भूमिका का निर्वाह कैसे होगा? इतिहास में मेरा नाम दर्ज कैसे होगा?- सरीखे सवाल मन में करंट की भाँति दौड़ गए। और अचानक मेरी कमर में लगी रीढ़ मुझे पिघलती महसूस हुई। हालाँकि झुक तो वह बहुत पहले ही गई थी। अब तो घुटनों के बल आने को तैयार बैठी थी। चूँकि साहित्य का द्वार तो बंद हो गया था लेकिन एडमिन के पर्सनल व्हाट्सएप का द्वार अभी खुला था। शायद गिरगिट ने मेरे गिड़गिड़ाने का रास्ता खुला रखा था। साहित्य विकास में योगदान हेतु अगर गिड़गिड़ाना, हाथ जोड़ना, पैर पड़ना जैसे छोटे-मोटे कर्म किए जाएँ तो क्या बुरा है। सो, पिघली हुई रीढ़ ने काम

डॉ. अनीता यादव
6/10, थर्ड फ्लोर, इंदिरा विकास कॉलोनी,
मुखर्जी नगर, दिल्ली 110009
मोबाइल- 8920225355
ईमेल- dr.anitayadav77@gmail.com

आसान कर दिया और मैंने उनके व्यक्तिगत नम्बर रूपी घर पर मैसेज रूपी कॉल बेल बजाई। हाथ जोड़कर नमस्कार सहित फूल देने की प्रक्रिया पूरी की। बावजूद सामने वाले का मास्क उतर नहीं रहा था। प्रक्रिया का अगला चरण बढ़ाते हुए मैंने उनके लेखन की प्रशंसा के बड़े-बड़े डैम बाँधे। वे कविताएँ जो रद्दी में डालने योग्य थी, उनमें संवेदना-शिल्प से लेकर भाषा सौंदर्य की पगडंडी विकसित कर दी। जो उपन्यास अभी तक लिखा नहीं गया था उस में पीएँच.डी करने की संभावना तलाश डाली। जिस कहानी को लेकर उन्होंने पाठकों को बेवकूफ बनाया था उसी कहानी को लेकर वह कितने बेवकूफ बन सकते हैं इसकी पूरी कोशिश मैंने की। जिसमें मुझे सफलता मिली।

मेरे द्वारा भेजे गए मैसेज की टोकरी से एडमिन के अंदर बदले मिज़ाज का नव अंकुरण का प्रस्फुटन हुआ और वे साक्षात् ईश्वरीय मुस्कान सहित प्रकट हुए। अब गोधूलि बेला समाप्ति की ओर थी। सुलह की भट्टी सुलग चुकी थी जिसमें मैसेज की बीड़ी बड़े धैर्य और मज़े ले लेकर पी गई। फूल पत्तियों सहित केक और चॉकलेट का लेन-देन हुआ। अभी तक व्हाट्सएप में मिठाई डब्बा इमोजी नहीं है अन्यथा उसके भी कई डब्बे भेजे जाते। और बस तभी अमुक साहित्य ग्रुप का दरवाज़ा खुला और मेरा पुनर्वास कहिए या घर वापसी, हुआ।

एडमिन के व्यवहार से मुझे महसूस हुआ कि उनका मन तो था कि ग्रुप में मेरा गृह प्रवेश कुमकुम की थाली सजा कर कराया जाए। लेकिन वह भी क्या करते कुमकुम की थाली का इमोजी भी मिठाई के डब्बे भाँति अभी इजाद नहीं हुआ है। सो, एक पुष्प गुच्छ भेंट हुआ। ग्रुप के बाड़े में कैद बकरियाँ और बैल बस देख रहे थे। और मैं सोच रही थी कि आधे हाथ की रीढ़ न रहने से कितना कुछ सँभल जाता है। यही अगर कमर में रहे तो चुभ-चुभ कर क्रांति करवा देती है। इसके रहने से दुनिया लुटती है तो इसका क्या फायदा? इससे तो बेरीढ़ ही भले!

000

लघुकथा

माँ का शॉल

ऋतु गुप्ता

माँ के गुज़र जाने के छह महीने बाद भाई की बेटी के जन्म पर पहली बार मायके जाना हुआ। सब कुछ ऐसा ही था लेकिन माँ नहीं थी। सभी लोग ऐसा व्यवहार कर रहे थे कि कहीं मुझे माँ की कमी महसूस न हो। बाबूजी बिना बात हँस देते थे, भाई बार-बार इधर-उधर की बातें करता जाता था, और भाभी तो जैसे मेरी ही ख़ातिर में लगी थी। लेकिन मुझे बार-बार माँ की आवाज़ सुनाई दे रही थी। बिट्टो यह खा ले, बिट्टो वह खा ले, देख तेरे लिए ही मंगवाया है, तुझे बहुत पसंद है न। (माँ मुझे प्यार से बिट्टो ही बुलाती थी)

जब कभी हम सभी अपनी बातों में मशगूल होते तो पीछे से आकर अपना शॉल मुझे उड़ा देती और कहती, इसे ओढ़ ले नहीं तो सर्दी लग जाएगी।

मैं इन ख़यालों में ही थी, कि इतने में भाभी आकर कहती है, दीदी यह साड़ी और यह सूट आपके लिए है, मेरी आँखें जो इतनी देर से अपने आँसुओं को अंदर ही अंदर पी रही थी कि कहीं खुशी के मौके पर आँसू न आ जाए, अपने को रोक न सकी और आँखें नम हो गईं।

मैंने भाभी से कहा भाभी मुझे तो सिर्फ माँ का वह शॉल ला दो। भाभी गई और वह शॉल लाकर मुझे उड़ा दिया और बेटी को मेरी गोद मे लाकर दे दिया, और बोली अब आपको ही इसे दादी और बुआ दोनों का प्यार देना है।

शॉल में माँ के स्नेह की गरमाई को महसूस करते हुए मुझे एहसास हुआ कि माँ तो यही कहीं है मेरे पास.....

000

ऋतु गुप्ता, खुर्जा, बुलंदशहर, उत्तर प्रदेश
मोबाइल- 89568432833
ईमेल- ritu.gupta.kansal@gmail.com

संस्मरण

पुष्प-प्रेम

सेवक नैयर

नवाब ऑफ मलेरकोटला की चार सौ वर्ष से भी अधिक पुरानी रियासत के सबसे पुराने भाग में हमारा घर छोटे से एक मुहल्ले में था। मेन रोड से वहाँ तक पहुँचने के लिए कई टेढ़ी-मेढ़ी, अँधेरी, संकरी गलियों से गुज़रना पड़ता था। साइकिल और स्कूटर के अलावा किसी और वाहन अथवा ट्रांसपोर्ट का वहाँ तक पहुँच पाना तो संभव ही न था। ऊपर से, गलियों में यहाँ-वहाँ मैले के ढेर लगे रहते थे। उन दिनों घरों में फ्लश-सिस्टम नहीं हुआ करता था। ड्राई-सेनिटेशन का ज़माना था। मैला उठाने की ज़िम्मेदारी निजी सफाई-कर्मियों की होती थी जो उसे घरों से निकालकर गली के किसी मोड़पर जमा कर दिया करते थे। दस-ग्यारह बजे तक जब म्युंसिपल कमेटी के सफाई-कर्मचारी मैले को गधों पर लादकर नहीं ले जाते थे, उसपर दुनिया-भर की मक्खियाँ भिनभिनाती रहती थीं और गली-मुहल्लों से निकलना मुश्किल हो जाता था।

ऐसे वातावरण में आवश्यक था कि घरों, गली-मुहल्लों, चौराहों, या यूँ कहें कि जहाँ कहीं भी संभव हो, वहाँ पर ज़्यादा से ज़्यादा फूल, पेड़, पौधे लगाए जाते ताकि प्रदूषण के कु-प्रभाव को कम से कम किया जा सकता। लेकिन दुख की बात यह थी कि अड़ोस-पड़ोस में न तो किसी को बागबानी शौक़ था और न ही उसके लिए पर्याप्त स्थान एवं साधन उपलब्ध हुआ करते थे। यहाँ तक कि पूरे शहर में म्युंसिपल कमेटी का भी कोई बाग-बगीचा न था। हाँ, कुछ मुहल्लों के एकदम बीचों-बीच जो थोड़े-बहुत खुले मैदान थे, किसी ज़माने में शहर के कुछ दूरंदेश लोगों ने वहाँ पीपल अथवा बरगद के एक-एक दो-दो वृक्ष लगा दिए थे, जो अब तक अच्छे-ख़ासे घने व छायादार हो चुके थे। इन्हीं गिने-चुने वृक्षों को पुराने शहर की बहु-मूल्य प्राकृतिक धरोहर समझा जाता था। इन्हीं की छांव में नटखट बच्चे दिन-भर स्टापू और गिल्ली-डंडा खेलते रहते थे। शाम होती थी तो, इन्हीं वृक्षों के नीचे मिट्टी अथवा ईंटों से बने चबूतरों पर शहर के बड़े-बुज़ुर्गों की चौकड़ी जमा करती थी, जिसमें दिन-भर की समस्त छोटी-बड़ी गति-विधियों पर बे-फिज़ूल की चर्चा हुआ करती थी।

शहर के मुट्ठी-भर खाते-पीते लोग, जो नाम-मात्र की टूटी-फूटी पुरानी हवेलियों में रहते थे, अपनी छतों अथवा मुँडेरों पर टीन-कनस्तर काट-काटकर बनाए गए पॉट्स में तुलसी अथवा गेंदे के दो-चार पौधे लगा देते थे तो अपने-आपको बड़े भारी पर्यावरणविद समझने लगते थे। लेकिन मुझे तो बचपन से ही फूलों से बहुत प्रेम था। नींद से जगते ही मेरी इच्छा होती थी कि घर की परछत्ती में माँ ने जो छोटा-सा मंदिर बना रखा था वहाँ भगवान् की मूर्तियों के सामने फूल चढ़ाऊँ। इसलिए हर सुबह, अपने कुछ हम-उम्र दोस्तों के साथ मैं मॉर्निंग-वॉक पर निकल पड़ता था। थोड़ा बहुत व्यायाम हो जाता था और फूलों की उगाही भी। मलेरकोटला छोटा-सा शहर था। वर्ष 1950 के दशक में वहाँ की आबादी भी मुश्किल से चालीस-पचास हज़ार की ही रही होगी। हम लोग जिस तरफ से भी जाते थे, डेढ़-दो किलोमीटर में शहर पार कर लेते थे। शहर

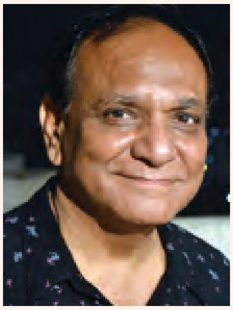

सेवक नैयर
801-802 ए, 2-ए, मानिकचंद मालाबार,
वानोवरी, पुणे – 411040
मोबाइल- 8308093028
ईमेल- sewaknayyar@gmail.com

के एक छोर पर सिंगल-प्लेटफॉर्म वाला रेलवे-स्टेशन था जहाँ से दिन में कोयले के ईंधन से चलने वाली पाँच या छ: गाड़ियाँ निकला करती थीं। लेकिन हर गाड़ी के निकलने के समय से आध-पौन घंटा पहले और बाद में स्टेशन को पुराने शहर से जोड़ने वाली सुनसान सड़क पूरी तरह सजीव हो उठती थी। यात्रियों से लदे टाँगों के सरपट भागते घोड़े मानों डर्बी रेस के घोड़े बन जाते थे।

स्टेशन की बगल में ठंडी सड़क थी। रियासत के दिनों में पुराने शहर के निवासियों का यहाँ आना-जाना वर्जित हुआ करता था। इसे ठंडी सड़क इसलिए कहा जाता था क्योंकि इसके दोनों ओर बेशुमार हरे-भरे विशाल वृक्ष थे, जिनकी शाखाएँ इसे गर्मी के मौसम में सूर्य-किरणों की असहनीय तपन से बचाए रखती थीं। शीत-काल में तो ख़ैर वहाँ से निकलना ही मुश्किल हो जाता था। लगता था जैसे कोहरा पड़ रहा हो। सड़क पर चंद-एक बंगले थे, जहाँ रियासत के दिनों में नवाब के वज़ीर और दूसरे वरिष्ठ अधिकारी रहा करते थे। अब इन बंगलों में शहर के एस डी एम, जुड़िश्यल मेजिस्ट्रेट, पुलिस कप्तान, तहसीलदार जैसे सरकारी अफ़सर रहने लगे थे। बंगलों के बाहर कई प्रकार के बारहमासी फूलों की झाड़ियाँ थीं जो हमेशा खिली रहती थीं। वहाँ से मुझे ढ़ेरों फूल मिल जाया करते थे। कई बार हम शहर के दूसरी ओर निकल पड़ते थे। वर्ष 1900 के आस-पास, जयपुर के लाल बाज़ार की तर्ज़ पर बनाए गए मोती बाज़ार की शोभा देखते ही बनती थी। उसे लांघकर हम मालेर क्षेत्र में पहुँचते थे। वहाँ शहर के संस्थापक दरवेश, हज़रत शेख़ की मशहूर दरगाह थी। लुधियाना की ओर थोड़ा और आगे बढ़ते थे तो वहाँ बड़ी ही रमणीय व मुक़द्दस ईद-गाह थी। ईद-गाह की दूधिया सफ़ेद संगमरमर से बनी दीवारों के भीतर एक विशाल दालान था, जहाँ ईद के मुबारक अवसर पर हज़ारों श्रद्धालू एक साथ नमाज़ पढ़ सकते थे। ईद-गाह की सामने वाली दीवार में मेहराब थी और मंबर, जहाँ बैठकर इमाम नमाज़ पढ़वाया करता था। मलेरकोटला एक मुस्लिम रियासत थी। इसलिए आज भी वहाँ की अधिकतर आबादी मुस्लिम थी।

ईद-गाह की खूबसूरत दीवारों के इर्द-गिर्द रंग-बिरंगे बेहद सुंदर फूलों की असीम क्यारियाँ थीं, जिनकी देखभाल का ज़िम्मा बशीर माली के सर हुआ करता था। ईद-गाह के मुख्य द्वार पर 'मुस्तफा टी स्टॉल' था। वहाँ की कड़क चाय और आटे के बिस्किट बहुत मशहूर थे। हम लोग वहाँ चाय के लिए रुकते थे तो बशीर को भी अपने साथ बैठा लिया करते थे। वह पढ़ा-लिखा नहीं था लेकिन फूलों के बारे में उसके ज्ञान और अनुभव का कोई ठिकाना न था। हम उससे कुछ पूछ बैठते थे तो वह चाबी-भरे खिलौने की माफिक शुरू हो जाता था। पूरे जोश के साथ अपने गूढ़-ज्ञान का पिटारा खोलकर हमें बागबानी के सबक पढ़ाने लगता था। फूलों के बारे में मुझे जो भी थोड़ी-बहुत जानकारी थी वह बशीर की ही दी हुई थी। वह मुझसे काफी बड़ा था। शायद मेरे बाउजी की उम्र का रहा होगा। लेकिन फूलों के लिए मेरा पागलपन देखते हुए वह मेरा अच्छा-ख़ासा दोस्त बन गया था। मेरे कहे बग़ैर ही वह रंग-बिरंगे फूलों से मेरी झोली भर दिया करता था।

हम ठंडी सड़क पर जाते थे या ईद-गाह की ओर, मैं हर रोज़ अच्छे-ख़ासे फूल घर ले आता था। माँ बड़े चाव से उन्हें मंदिर में सज़ा देती थी। भगवान् के प्रसाद के रूप में कुछेक फूल मेरे हिस्से में भी आ जाते थे। मैं उन्हें स्टील की कटोरी में थोड़े पानी में डालकर अपने स्टडी-टेबल पर रख लिया करता था। शाम होते-होते पानी सूखने लगता था तो मैं फूलों को पोंछकर अपनी किताबों में छुपा देता था। ऐसे कितने ही सूखे हुए फूल आज भी मेरी पुरानी किताबों में अक्सर मिल जाते हैं। उन्हें देखते ही मालेरकोटला, वहाँ की ठंडी सड़क, ईद-गाह और बशीर माली की याद एकदम ताज़ा हो जाती है।

चंद एक वर्ष मलेरकोटला के सरकारी कॉलेज में इंग्लिश पढ़ाने के बाद मैंने सिविल सर्विसिस की परीक्षा की भी तैयारी कर ली थी। वर्ष 1976 में जब मेरा चयन आई ए एस की एलाइड सर्विस, 'भारतीय रक्षा संपदा सेवा' में हुआ तो मुझे इस सिलेक्शन से ज़्यादा इस बात की खुशी थी कि इस सर्विस में मेरा अधिकांश समय अंग्रेज़ों द्वारा स्थापित सौ-डेढ़ सौ वर्ष पुरानी छावनियों में गुज़रने वाला था। देश की स्वतन्त्रता के तुरंत बाद जब इस विषय पर समीक्षा की गई थी कि ब्रिटिश साम्राज्य के इन अवशेषों को बरकरार रखा जाए या ख़त्म कर दिया जाए तो एकमत से निर्णय लिया गया था कि यह तो 'ग्रीन लंग्ज ऑफ द नेशन' हैं, इसलिए इन्हें बरकरार रखना ही देश के हित में होगा। इन छावनियों को स्थापित करने का एक बड़ा उद्देश्य यह भी था कि ईस्ट इंडिया कंपनी और बाद में ब्रिटिश साम्राज्य के अंग्रेज़ी मूल के सैन्य अथवा सिविल अधिकारियों, सिपाहियों और उनके परिवारों की रिहायश के लिए सुंदर, स्वच्छ, स्वस्थ एवं सुरक्षित वातावरण मुहैया करवाया जा सके। मुझे इस बात की भी खुशी थी कि कैंटोनमेंट बोर्ड्ज़ में चीफ़ एग्ज़ेक्टिव ऑफ़िसर की हैसियत से काम करते हुए अपने अधिकार-क्षेत्र में मैं जहाँ भी चाहूँ, जितने भी चाहूँ फूल, पेड़, पौधे लगवा सकता था। छावनियों में पब्लिक-गार्डन्स विकसित करना और उनकी उचित देखभाल सुनिश्चित करना मेरे कार्य-क्षेत्र का अहम हिस्सा था। और मैंने इस नेक कार्य को हमेशा ज़िम्मेदारी और निष्ठा से निभाया। अपने पुष्प-प्रेम को पूरी तरह फूलने-फलने का मौका दिया। अपने ही नहीं, छावनी के हर निवासी के जीवन में रंग, सुगंध और खुशियाँ भरने की पूरी कोशिश की। उनके लिए सुंदर, स्वच्छ एवं स्वस्थ वातावरण पैदा करने का पूरा प्रयास किया। जब तक माँ जीवित रही उसे और उसके जाने के बाद उसके भगवान् को भी कभी फूलों की कमी महसूस नहीं होने दी। छावनियों में रहते हुए अब मुझे फूलों के संचय के लिए किसी ठंडी सड़क अथवा ईद-गाह की तलाश नहीं करनी पड़ती थी। मेरे सरकारी बंगलों में ही नाना प्रकार के मौसमी एवं बारहमासी फूल इतनी तादाद में खिला करते थे कि माँ और उसके भगवान् गद-गद हो उठते थे। मेरे आवासीय बगीचों की शोभा देखते

बनती थी। बोर्ड के श्रेष्ठ मालियों की

सूझ-बूझ व मेहनत और बशीर की दी हुई सरल लेकिन अत्यंत प्रभावी टिप्स के बदौलत, ये उत्कृष्ट बागवानी का नमूना माने जाते थे।

छावनी-निवासियों को अच्छी जीवन-शैली का महत्त्व समझाने और उनमें बागवानी का शौक़ पैदा करने के इरादे से मैं लगभग हर छावनी में वार्षिक फ्लावर-शोज़ का आयोजन किया करता था। इनमें छोटे-बड़े व्यक्तिगत और संस्थागत लॉन्स, पोट्टेड प्लांट्स, बोन्साई, ग्रीन एवं ड्राई फ्लावर-अरेंजमेंट्स, जैसी कई दिलचस्प प्रतियोगिताएँ करवाई जाती थीं। शो देखने आने वाले लोगों को फूल-पौधे लगाने और उनकी उचित देखभाल करने की अत्यंत उपयोगी टिप्स दी जाती थीं। उन्हें उनके घरों, दफ्तरों व अन्य स्थानों पर लगाने के लिए पौधे बाँटे जाते थे, वह भी नि:शुल्क। शो के उद्घाटन-दिवस पर सार्वजनिक वृक्षारोपण का भव्य कार्यक्रम आयोजित किया जाता था। राज्य के वन-विभाग के सौजन्य से छावनी की खुली सड़कों के किनारे, आर्मी की यूनिट-लाइंस में, दफ्तरों में, अतिक्रमण की आशंका वाले सैन्य अथवा रिहायशी क्षेत्रों में, सार्वजनिक शौचालयों और नदी-नालों के इर्द-गिर्द, हज़ारों की संख्या में पेड़-पौधे लगाए जाते थे। उनकी उचित सुरक्षा के लिए ट्री-गार्ड्स की व्यवस्था की जाती थी। उन्हें सही समय पर पानी देने के लिए वाटर-टैंकर उपलब्ध कराए जाते थे।

मुझे अच्छी तरह याद है सर्विस के शुरूआती दिनों में मैंने जालंधर छावनी के जवाहर गार्डन में फ्लावर-शो का आयोजन किया था। इसके समापन समारोह में मैंने मलेरकोटला से अपने पुष्प-गुरु बशीर माली को विशेष अतिथि के रूप में आमंत्रित किया था। बशीर की प्रथम प्रतिक्रिया नकारात्मक थी। उसने आज तक कभी शहर से बाहर पाँव नहीं रखा था। इसलिए वह सफर से घबरा रहा था। लेकिन एक बार उसने जालंधर पहुँचकर जवाहर गार्डन में प्रवेश किया था तो वह गद-गद हो उठा था। गार्डन के विस्तृत लॉन्स में सैंकड़ों की संख्या में बड़े ही व्यवस्थित ढंग से रखे हुए पोट्टेड प्लांट्स देखकर वह अवाक रह गया था। रंग-बिरंगे गुलाब, क्रिसेन्थियम, बॉलसम, एंटेरेनम, जेस्मिन, डेज़ी, और न जाने कितने प्रकार के सुंदर फूल उसे रोमांचित कर रहे थे। आर्मी-वाइव्स द्वारा बनाए गए ग्रीन एवं ड्राई फ्लावर-अरेंजमेंट्स तो किसी के भी होश उड़ा सकते थे। फिर बशीर ने तो फूलों के ऐसे अनोखे अरेंजमेंट्स कभी सपने में भी नहीं देखे थे। बशीर की उत्तेजना उस समय देखने योग्य थी जब पुरस्कार-वितरण समारोह में सेना और सिविल के उच्चाधिकारियों के बीच उसे मंच पर आमंत्रित किया गया था और एक भव्य पुष्प-गुच्छ देकर उसका अभिनंदन किया गया था। जब उसे पोट्टेड प्लांट्स की श्रेणी के विजेताओं को पुरस्कार देने के लिए कहा गया तो वह अत्यंत भावुक हो उठा था। उसकी आँख भर आई थी। उसका गला रुँधने लगा था। खुदा का शुक्र अदा करने के लिए उसने आकाश की ओर देखा था और उसके हाथ अनायास ही दुआ में ऊपर उठ गए थे... ! उसे ऐसी स्थिति में देखकर मेरा भी मन भर आया था। ईद-गाह के बाहर 'मुस्तफा टी स्टॉल' पर चाय की चुसकियाँ लेते हुए फूलों पर चर्चा करने वाले वे दिन हम दोनों के मानस-पटल पर घूमने लगे थे। वह तो धन्य हो गया था। और मुझे भी बहुत अच्छा लग रहा था। लग रहा था कि अनजाने में ही सही मैंने अपने पुष्प-गुरु को उसकी अपेक्षित गुरु-दक्षिणा प्रदान कर दी थी। मेरे सर से बहुत बड़ा बोझ उतर गया था। मैं बहुत हल्का महसूस कर रहा था।

मुझे मलेरकोटला में बिताए बचपन के दिन याद आते थे तो सामाजिक कुरीतियों से लताड़े गए असहाय एवं लाचार नर-नारियों के सिर पर मैला उठाने के मार्मिक दृश्य मेरी आँखों के सामने तैरने लगते थे। ऐसे अमानवीय कृत्यों की याद भर से मैं सिहर उठता था। हमारे सामाजिक ढाँचे में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने का मेरा निश्चय और भी दृढ़ हो जाता था। सर्विस के प्रारम्भिक वर्षों में मैं जिन छावनियों में रहा, मलेरकोटला की तरह, उनमें भी ड्राई-सेनिटेशन का ही बोलबाला था। अंतर केवल इतना था कि मलेरकोटला में सफाई-कर्मियों को मैला सिर पर उठाना पड़ता था जबकि

छावनियों में इसे व्हील-बैरोस में डालकर मैला-गाड़ियों में उंडेल दिया जाता था और ट्रेंचिंग ग्राउंड्स के गड्ढों में दबाकर इससे खाद बना ली जाती थी।

वर्ष 1970 में बिहार के एक पर्यावरण-शास्त्री एवं वैज्ञानिक, बिंदेश्वर पाठक ने जब सुलभ शौचालयों की परिकल्पना की थी तो देश के हज़ारों-लाखों सफाई-कर्मियों को उनका भविष्य बदलता हुआ दिखाई देने लगा था। मैं भी बड़ी संजीदगी एवं निष्ठा से इस अभियान के साथ जुड़ गया था। मैंने पहला सुलभ शौचालय अपनी दूसरी ही पोस्टिंग के दौरान वाराणसी छावनी के सदर बाज़ार क्षेत्र में 1979 में बनवाया था। बाज़ार के निवासी गद-गद हो उठे थे। सफाई-कर्मचारी-यूनियन के ओहदेदारों ने तो मुझे सिर पर उठा लिया था। वाराणसी एक अभाव-ग्रस्त छावनी थी। वहाँ निकट भविष्य में सिवेज-लाइंस का आना लगभग नामुमकिन समझा जाता था। इसलिए वहाँ के लोगों के लिए ड्राई पब्लिक-लैट्रीन्स के स्थान पर सुलभ-शौचालायों का निर्माण भी बहुत बड़ा वरदान माना जाता था। फिर मैं तो फूलों का पुजारी था। जहाँ भी सुलभ शौचालय का निर्माण होता था मैं उसके आस-पास छोटा-सा ही सही, एक उद्यान ज़रूर बनवा देता था। शौचालय का प्रयोग करने वाले नर-नारी रंग-बिरंगे फूलों की मनमोहक सुगंध से धन्य हो जाते थे। रक्षा संपदा विभाग में लगभग तैंतीस वर्ष के दीर्घ सेवाकाल में मैंने दर्जनों सुलभ-शौचालयों का निर्माण करवाया। शायद उतने ही छोटे-बड़े सार्वजनिक-उद्यान भी विकसित किए। इनमें से कुछेक तो बहुत उल्लेखनीय रहे। जालंधर से मेरा तबादला पश्चिमी बंगाल की ऐतिहासिक छावनी बैरकपुर में हुआ तो मैं बहुत उत्साहित था। बैरकपुर अंग्रेज़ों द्वारा बसाई गई भारत की सबसे पहली छावनी थी। इसकी स्थापना वर्ष 1772 में हुगली नदी के किनारे पर की गई थी। ईस्ट इंडिया कंपनी से जब ब्रिटिश क्राउन द्वारा भारत का प्रत्यक्ष नियंत्रण ग्रहण किया गया तो पहले गवर्नमेंट हाउस एवं सरकारी एस्टेट का निर्माण बैरकपुर में ही हुआ था। मंगल पांडे के

विद्रोह के साथ अंग्रेजी हुकूमत के विरुद्ध 1857 के स्वतंत्रता संग्राम की नींव भी बैरकपुर में रखी गई थी। इसके लिए ज़िम्मेदार ठहराए गए 29 वर्ष के युवा सिपाही मंगल पांडे को फांसी की सज़ा भी बैरकपुर में ही दी गई थी। मंगल पांडे के महान बलिदान के सम्मान में हुगली नदी के खूबसूरत घाट पर अत्यंत रमणीय गार्डन, 'शहीद मंगल पांडे पार्क' की संरचना करते हुए मुझे जो गर्व महसूस हुआ था उसे शब्दों में ब्यान नहीं किया जा सकता। आज भी यह गार्डन पर्यटकों के साथ-साथ स्थानीय आबादी में काफी लोक-प्रिय माना जाता है।

इसी प्रकार पंजाब के सीमावर्ती क्षेत्र फ़िरोज़पुर छावनी में 'कैंट गार्डन' का पुनर्निमाण मेरे दिल के बहुत करीब रहा। यह काम मेरे लिए किसी चुनौती से कम न था। वर्ष 1947 में देश के बँटवारे का सबसे विनाशकारी प्रभाव फ़िरोज़पुर और उसकी निकटवर्ती छावनी पर पड़ा था। इनकी खुशहाली और खुशियों पर तो मानों ग्रहण ही लग गया था। वर्ष 1983 में जब मैं पोस्टिंग पर फ़िरोज़पुर पहुँचा, तो शहर में जो थोड़े बहुत औद्योगिक प्रतिष्ठान हुआ करते थे, एक-एक करके बंद हो चुके थे। हुसैनीवाला बॉर्डर केवल दस-एक किलोमीटर की दूरी पर था। बॉर्डर पर बम-बारी होती थी तो उसकी भयावह गूँज छावनी-क्षेत्र के निवासियों के घरों में सुनाई देती थी। बॉर्डर के उस पार से किसी भी प्रकार के हमले का ख़तरा लोगों के दिलों में निरंतर बना रहता था। इसलिए बहुत सारे लोग अपना घर-बार, संपत्ति एवं व्यवसाय छोड़-छाड़कर अधिक सुरक्षित समझी जाने वाली जगहों पर जा बसे थे। ऊपर से वर्ष 1983-84 में आतंकवाद ने पूरे पंजाब राज्य को अपनी निर्मम लपेट में ले रखा था। आगजनी, अपहरण, लूट-पाट और गोलीबारी की घटनाएँ आम सुनने को मिलती थीं। आए दिन कर्फ़्यू लगा दिया जाता था। छावनी वीरान लगने लगी थी। कैंटोनमेंट बोर्ड का 'कैंट गार्डन' जो किसी ज़माने में छावनी की शान हुआ करता था, निरंतर अवहेलना का शिकार होकर पूरी तरह से उजड़ चुका था। उसके जीर्णोद्धार के लिए न तो बोर्ड के पास पर्याप्त फंड्ज़ उपलब्ध थे और न ही यह काम उनकी प्राथमिकता के दायरे में बैठता था। लेकिन मैं तो फूलों का दीवाना था। एक अच्छे-ख़ासे गार्डन को ऐसी दयनीय दशा में देखकर मैं चुप नहीं रह सकता था।

आतंकवाद के क़ाबू में आने तक मैंने 'कैंट गार्डन' के पुनर्निर्माण की पूरी योजना तैयार कर ली थी। गार्डन दो-ढाई एकड़ में फैला हुआ था। इसलिए इसके सर्वांगीण विकास के लिए जगह की कमी नहीं थी। विकास के लिए मेरे मन में विचारों की भी कमी न थी। मैं इसे बढ़िया लैंडस्केपिंग और वाटर-बॉडीज़ के साथ एक खूबसूरत 'फूलों की वादी' में तब्दील करना चाहता था --- 'अ वेल्ली ऑफ फ्लावर्स'। गार्डन के एक छोटे-से भाग को 'चिल्ड्रन कॉर्नर' बनाना चाहता था और एक दूसरे भाग को 'सीनियर सिटीज़न्स पार्क'। गार्डन में पहले से दो-दो ट्यूब-वेल मौजूद थे। इसलिए पानी की भी कोई कमी नहीं थी। कमी केवल फंड्स की थी। उसे भी मैंने गार्डन के परिसर में ही एक भव्य तीन-दिवसीय फौजी मेला लगाकर पूरा कर लिया था। फिर गार्डन के एक भाग में नर्सरी की स्थापना की गई थी। दो-तीन महीने तक छावनी केआर्मी एवं सिविल इलाकों का सूखा कचरा गार्डन में डंप करवाया गया। फिर उसमें मिट्टी मिलाकर कैंट बोर्ड एवं स्थानीय मिलिट्री यूनिट्स के संसाधनों की सहायता से शानदार लैंडस्केपिंग की गई। फौजी मेले से अर्जित धन-राशि से गार्डन की बाउंड्री-वाल एवं वाटर-बॉडीज़ का निर्माण किया गया। छावनी में स्थित कुछ बैंकों के सौजन्य से बच्चों के खेल-कूद के उपकरणों की व्यवस्था की गई। जब तक सिविल कार्य सम्पूर्ण हुए, नर्सरी में नाना प्रकार के फूलों के पौधे तैयार हो चुके थे। मुश्किल से एक वर्ष की अवधि के भीतर फ़िरोज़पुर की निर्जन व नीरस फिज़ाएँ इक नई बहार के रंगों व खुश्बुओं से महकने लगी थीं

वर्ष 2008 में मैं रक्षा संपदा सेवा से रिटायर हुआ तो अपनी पत्नी के साथ पुणे में मानिकचंद मालाबार के अपने आठवीं मंज़िल के फ्लैट में शिफ्ट हो गया था। अब तक हमारे दोनों बच्चों की शादी हो चुकी थी और वे मुंबई में बस गए थे। माँ तो कई वर्ष पहले ही संसार छोड़कर जा चुकी थी। हाँ, उसका मंदिर अब भी मेरे दिल और मेरे घर में कायम था, हालाँकि भगवान् के लिए फूल जुटाने का कार्य अब पहले जैसा सरल और सुगम नहीं रहा था। पुणे में न तो कोई ठंडी सड़क थी और न ईद-गाह। न ही यहाँ कोई जवाहर गार्डन था, न मंगल पांडे पार्क और न कैंट गार्डन। छावनियों के एकड़ों में फैले सरकारी बंगले भी, जहाँ फूलों की भरमार हुआ करती थी, पीछे छूट चुके थे।

रिटायरमेंट के समय मेरे पास सौ से भी अधिक व्यक्तिगत पॉट्स थे, जिन्हें न जाने कितने वर्षों से जीवन की बहुमूल्य निधि समझकर मैं अपने सिर पर उठाए घूम रहा था। एक छावनी से दूसरी छावनी में मेरा स्थानांतरण होता था तो आधे से ज़्यादा ट्रक-लोड तो केवल पॉट्स का ही हो जाता था। उनमें से कुछ एक तो, विशेषकर बोनसाई के छोटे-छोटे लेकिन अद्भुत एवं विरले प्लांट, मेरे बच्चों की उम्र के हो चुके थे। मैंने और मेरी पत्नी ने इनकी देखभाल भी अपने बच्चों की तरह ही की थी। इतने वर्षों में किसी भी सरकारी आवास में इन्हें रखने की कोई समस्या नहीं हुई थी। लेकिन पुणे के हमारे फ्लैट में एक छोटी-सी एण्ट्रेंस-लॉबी थी और दूसरी ओर १०' गुणा 12' की एक बालकनी। दोनों को मिलाकर बीस-तीस से अधिक पॉट्स रखने की जगह नहीं थी। इसलिए हमने दिल पर पत्थर रखकर अपने अधिकतर पॉट्स अपने कुछ घनिष्ठ एवं विश्वसनीय मित्रों में बाँट दिए थे। शर्त केवल यह थी कि वे इन पॉट्स की देखभाल वैसे ही करेंगे जैसे हमने की थी। आठ-दस बोनसाई और लगभग दस-बीस अलग-अलग क़िस्म के फूलों के पॉट्स लेकर हम फ्लैट में शिफ्ट हो गए थे।

बशीर की अत्यंत उपयोगी टिप्स की बदौलत, किसी पेशेवर माली के न रहते हुए भी, मैं और मेरी पत्नी इन पॉट्स की अच्छी देखभाल कर लिया करते थे।

लेकिन दो-तीन साल में ही हमें महसूस

होने लगा था कि हम इन प्लांट्स के साथ इंसाफ नहीं कर रहे थे। हम दोनों देश-विदेश घूमने के बहुत शौकीन थे। संयोगवश रिटायरमेंट के बाद पुणे में हमारा मित्र-सर्कल भी ऐसा बन गया था जिनके पाँव में चक्र था। हम लोग हर पाँच-छह महीनों के अंतराल में विदेश-भ्रमण के लिए निकल पड़ते थे। बीच-बीच में कभी रन ऑफ कच्छ, कभी ओड़ीशा; कभी हम्पी तो कभी अंडामान निकोबार द्वीप-समूह; कभी लेह-लद्दाख तो कभी नॉर्थ-ईस्ट आदि भारतीय पर्यटक-स्थलों के चक्कर भी लगते रहते थे। परिणाम यह होता था कि हमारे बच्चों की तरह पले-बढ़े पॉट्स, हमारी घोर उपेक्षा का शिकार होने लगते थे। दस-दस बारह-बारह दिन तक फ्लैट बंद रहता था। ऐसे में उन्हें न तो उचित मात्रा में धूप मिल पाती थी, न पानी। देखभाल के अभाव में न चाहते हुए भी वे मुरझाने लगते थे। हर यात्रा के बाद बड़े भारी मन से हमें एक-दो प्लांट्स को अलविदा कहना पड़ता था। इसलिए जब यह सिलसिला असहनीय होने लगा तो हमने सारे पॉट्स पुणे की एक विख्यात नर्सरी को भेंट कर दिए। हमारा घर एकदम सूना हो गया था लेकिन हमें इस बात की खुशी थी कि अब हमारे बच्चों को भूख और प्यास का सामना नहीं करना पड़ेगा। वे किसी भी प्रकार की अवहेलना का शिकार नहीं होंगे। उन्हें कोई यातनाएँ नहीं सहनी पड़ेंगी। उनकी अच्छी-ख़ासी देखभाल की जाएगी। और फिर हम तो समय-समय पर उनसे मिलने के लिए नर्सरी में जाने ही वाले थे।

पुणे के फ्लैट से पॉट्स के विदा होते ही जो थोड़े-बहुत फूल इन पॉट्स से घर में ही उपलब्ध हो जाया करते थे, वे भी जाते रहे थे। अब हमारे सामने सबसे बड़ा सवाल यह था कि मंदिर में चढ़ाने के लिए फूल कहाँ से आएँगे ? मलेरकोटला के हमारे घर में परछत्ती पर बने मंदिर में रखी भगवान् की मिट्टी की मूर्तियाँ समय के साथ-साथ शीशे के फ्रेम में जड़ी भगवान् की तस्वीरों में परिवर्तित होती रही थीं। मेरी सर्विस के दौरान देश के भिन्न-भिन्न हिस्सों से भगवान् के स्थानीय अवतारों की तस्वीरें अथवा लकड़ी, प्लास्टिक और धातु से बनी प्रतिमाएँ भी मंदिर में जुड़ती रही थीं। अर्थात् मलेरकोटला के मंदिर की तुलना में आज के मंदिर का दायरा काफी विस्तृत हो चुका था। लेकिन जो भी था, इन तस्वीरों में, सुपारियों पर, प्लास्टिक एवं धातुओं से बनी मूर्तियों में, थे तो भगवान् ही। भगवान् के अनेक रूप, उसकी अनेक छवियाँ। और माँ का अटूट विश्वास था कि भगवान् किसी भी रूप में हों, राम हों, कृष्ण हों, अल्लाह हों, ईसा मसीह हों, गुरु नानक हों, बुद्ध हों या महावीर हों, उन्हें प्रकृति की सर्वोत्तम भेंट, यानी पुष्प बहुत भाते हैं। और मेरे पास कोई कारण नहीं था कि मैं माँ की सोची-समझी धारणाओं पर संदेह करूँ। उसकी मान्यताओं पर प्रश्न-चिह्न लगाऊँ। हालाँकि ओशो का मत तो इसके बिलकुल उलट था। उसका मानना था कि फूल तब तक ही भगवान् को प्रिय होते हैं जब तक वे डाल पर लगे रहें। वे एक बार डाल से टूट जाएँ तो दूषित हो जाते हैं। भगवान् के चरणों में चढ़ाने के लायक नहीं रहते। लेकिन ओशो तो एक दार्शनिक था, समाज-सुधारक था। फूलों के प्रति उसकी इस धारणा का उद्देश्य बेवजह प्रकृति की सुंदता के साथ खिलवाड़ करने के ख़िलाफ़ लोगों के मन में भय की भावना पैदा करना भी हो सकता था। मैं स्वयं अपने पब्लिक पार्क्स में ऐसे नोटिस लगवाता रहा था कि 'फूल तोड़ना मना है'। वह केवल इसलिए कि पार्क्स को उजड़ने से बचाया जा सके।

फूलों को डालियों से तोड़ना एक सामान्य मानवीय क्रिया थी। दुनिया में हज़ारों-लाखों लोगों की आजीविका फूलों के व्यापार पर निर्भर करती थी। मंदिर में भगवान् के चरणों में चढ़ाना हो, किसी प्रिय व्यक्ति को बधाई अथवा शुभ-कामनाओं के लिए पुष्प-गुच्छ देने हों, ब्याह-शादियों व दूसरे सार्वजनिक कार्यक्रमों के मंडप सजाने हों, उनमें रंग और सुगंध भरने हों, दशहरा अथवा क्रिसमस जैसे त्योहारों को धूमधाम से मनाना हो, मृतकों अथवा दिवंगत आत्माओं को श्रद्धांजलि अर्पण करनी हो, सब जगह फूलों का प्रयोग किया जाता था। नीदरलैंड, कोलम्बिया, बेल्जियम, मलेशिया जैसे कितने देशों की अर्थ-व्यवस्था फूलों के निर्यात पर टिकी थी। हमारे अपने देश में ही पुणे, बेंगलुरु, गोआ जैसे शहरों से वर्ष 2018 में पंद्रह हज़ार करोड़ से भी अधिक रुपयों का फूलों का निर्यात किया गया था। जिसके वर्ष 2024 तक बढ़कर सैंतालीस हज़ार करोड़ रुपये होने की संभावना बताई जाती थी। ऐसे में मेरे पास कोई कारण नहीं था कि मैं ओशो के विचारों को माँ की फूलों के प्रति धारणाओं पर प्राथमिकता देता। मानिकचंद के हमारे आवासीय परिसर में दो सौ से अधिक फ्लैट थे। यहाँ एक अच्छा-ख़ासा क्लब-हाउस था, जिसमें स्विमिंग-पूल था, जिम था, बच्चों के खेलने के लिए कई प्रकार के उपकरण थे। दुर्भाग्यवश यहाँ उद्यान के नाम पर कुछ न था। परिसर की अंदरूनी सड़कों के किनारों पर जो थोड़ी-बहुत क्यारियाँ थीं वहाँ ताड़ के पेड़ लगा दिए गए थे।

उन क्यारियों में ही यहाँ-वहाँ कुछ एक फूलों के जो थोड़े बहुत पौधे थे उनके फूलों पर हमसे पहले से वहाँ रहने वाले कुछ लोगों ने अपना एकाधिपत्य जमा रखा था। वे इन्हें अपनी निजी संपत्ति मानने लगे थे। कोई दूसरा व्यक्ति इन पौधों के फूलों पर नज़र भी डालता था तो वे लोग भड़क उठते थे। यह सभ्य व्यवहार नहीं था। परंतु फूलों जैसी सुंदर, पुण्य व पवित्र वस्तु के लिए, जिसे माँ 'प्रकृति की सर्वोत्तम भेंट' कहा करती थी, किसी से झगड़ा मोल लेना भी शायद सभ्य व्यवहार न समझा जाता। इसलिए मैं चाहकर भी इस मामले में कुछ न कर पाता था। बल्कि मैंने दिल को समझा लिया था कि जीवन में पहली बार ही सही, अब पूजा के लिए फूलों को बाज़ार से खरीदकर लाने का समय आ गया था। मानिकचंद से कोंडवा की ओर जाने वाली सड़क पर ज्योति चौक से थोड़ा आगे भैरों बाबा का एक भव्य मंदिर था। मंदिर के सामने फूलों और दूसरी पूजा-सामाग्री की एक बड़ी दुकान थी। लिहाजा, अब मैंने अपनी मॉर्निंग-वॉक का रुख कोंडवा की ओर कर लिया था। हर रोज़ वहाँ से दो डोने फूल खरीदकर ले आता था और मेरी पत्नी बड़ी श्रद्धा से उन्हें भगवान् के चरणों में चढ़ा देती थी।

यह सिलसिला बड़े सुचारू रूप से चल रहा था कि वर्ष 2020 के शुरू होते ही कोविड-19 की महामारी ने पूरे देश को हिलाकर रख दिया। देखते-देखते लॉक-डाऊन लगा दिया गया। सब काम धंधे ठप्प पड़ गए। स्कूल-कॉलेज, जिम, क्लब सब बंद करवा दिए गए। दवा और राशन के अलावा अन्य सामान बेचने वाली सब दुकानें बंद करवा दी गईं। यहाँ तक कि मंदिर, मस्जिद, गिरिजे और गुरुद्वारों के किवाड़ों पर भी ताले मढ़ दिए गए। अत: भैरों बाबा का मंदिर भी बंद हो गया और उसके सामने वाली फूलों की दुकान भी। वैसे भी कुछ ही दिनों में महामारी का आतंक इतना फैल चुका था कि आवासीय परिसर के बाहर क़दम रखने में डर लगने लगा था। कई-कई लोग तो अपने घरों की दहलीज़ पार करने में भी घबराने लगे थे। टेलीविज़न, रेडियो व सरकारी-तंत्र भी दिन-रात यही प्रचार करते रहते थे कि : "कोई भी व्यक्ति घर से बाहर न निकले। जो जहाँ है, वहीं रहे।"

ऐसे में मेरा बाज़ार से फूल लाना भी बंद हो गया था। मैं और मेरी पत्नी भोर होते ही माथा टेकने के लिए मंदिर के सामने खड़े होते थे तो अपने-आपको दोषी महसूस करने लगते थे। भगवान् की मूर्तियाँ तो दूर, माँ की तस्वीर से भी आँख नहीं मिला पाते थे। बेटा-बेटी फ़ोन पर बात करते थे तो समझ जाते थे कि कोई बड़ी चिंता थी जो हम दोनों को सता रही थी। कई दिन तक तो हम उनसे अपना दुख छुपाते रहे। फिर एक दिन मेरी पत्नी भावनाओं के प्रवाह में बहकर बेटी के सामने फूट पड़ी। बेटी ने न जाने क्या किया, कैसे किया, लेकिन दो-तीन दिन में हमारे लिए एक पार्सल आ गया था।

दो दिन तक उसे विसंक्रमित करने के बाद हमने उसे खोला तो हम खुशी से उछलने लगे थे। पार्सल में भाँति-भाँति के अत्यंत सुंदर दर्जनों कृत्रिम फूल थे। साथ ही इत्र की एक बड़ी शीशी भी थी।

उसके बाद आज तक माँ के मंदिर में फूलों और फूलों की सुगंध की कमी कभी महसूस नहीं हुई!

000

लघुकथा

अतिक्रमण

भारती शर्मा

बड़े भाई की मृत्यु के पश्चात् अमोल पर पूरे परिवार की ज़िम्मेदारी आ गई थी। विधवा भाभी व भतीजे के भरण-पोषण का प्रश्न उठा, तो परिवार के बड़े-बुज़ुर्गों ने भावनात्मक उठापटक शुरू कर दी। "ज़रा सोचो अमोल बेटा, बहू की इतनी छोटी उम्र, इतना लम्बा जीवन कैसे कटेगा? बच्चे को कौन सहारा देगा? अब तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम भाई की छोड़ी ज़िम्मेदारियों को पूरा करो, उन्हें अपनाओ"। अमोल के दिलो-दिमाग़ पर जैसे कब्ज़ा कर लिया गया था। उसकी अपनी ज़िंदगी, उसके सपने-इच्छाएँ, क्या-क्या नहीं सोचा था उसने लेकिन उसे कुछ सूझ नहीं रहा था। एक ऐसी अँधेरी सुरंग में खड़ा था, जहाँ से जिसने जैसे हाथ थामा और जिधर ले चला वह उधर ही मुड़ गया। खोखले आदर्शों और औचित्यहीन तर्कों के आगे झुक गया। भाभी से विवाह तो कर लिया किंतु पत्नी रूप में स्वीकार नहीं कर पाया। लेकिन भतीजे को बेटा मान उसकी परवरिश पूरी लगन और समर्पण के साथ की। वक्त बीतता गया, बेटा बड़ा हुआ, विवाह भी कर दिया और समय चक्र फिर से घूमा। जिस परिवार के लिए अमोल ने अपना सब कुछ न्यौछावर कर दिया था, आज उसी परिवार में उसका कोई वजूद नहीं था। उन्हें अब अमोल की ज़रूरत नहीं थी। जिस बच्चे की ख़ातिर उसने अपने सपनों को तिलांजली दे दी थी, आज उसी के कहे शब्द अमोल का कलेजा चीर रहे थे

"आप हमारे परिवार का हिस्सा नहीं हैं। बेहतर यही होगा कि आप हमारी ज़िंदगी में दखल न दें और अपना इंतज़ाम कर लें।" अमोल संज्ञाशून्य उन लोगों को निहार रहा था। वह निढाल हो वहीं बैठ गया। बहुत देर तक वहीं अकेला बैठा रहा।

आज उसे ढांढस बंधाने कोई नहीं आया। ज़िंदगी के इस पड़ाव पर जब शेष के नाम पर शून्य रह गया है वह किसे दोष दे ? खुद को? समाज के उन ठेकेदारों को, जो सिर्फ दूसरे की ज़िंदगी पर अतिक्रमण करना जानते हैं या फिर उन तथाकथित अपनों को जो हाथ थाम कर उसे इन धुँधली राहों पर छोड़ गए। भावनावश या दबाव में लिए गए फ़ैसलों की क्या यही मंज़िल होती है? जहाँ आज वह खड़ा है। काश! उसने अपनी ज़िंदगी को हालात के हाथों सौंपा न होता। उसे यह अतिक्रमण रोकना चाहिए था।

000

भारती शर्मा, 'अभिनव प्रयास', स्ट्रीट-2, चन्द्रविहार कॉलोनी, नगला डालचन्द, क्वारसी बायपास, अलीगढ़-202001 (उ.प्र.)

मोबाइल- 8630176757

ईमेल- bharti 31775@gmal.com

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे

मुरारी गुप्ता

मुरारी गुप्ता
ई-37, शंकर विहार, एयरपोर्ट, जयपुर-302017
मोबाइल- 9414061219
ईमेल- murli4you@gmail.com

धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में आज से लगभग इक्यावन सौ पचास वर्ष पहले जब ऐतिहासिक महाभारत का समर हुआ होगा, उस समय यहाँ से दक्षिण-पूर्व में लगभग डेढ़ सौ किलोमीटर हस्तिनापुर में संजय ने अपनी दिव्य दृष्टि से धृतराष्ट्र को इस पुण्य भूमि का जो दृश्य बताया होगा, उसे सिर्फ यहाँ आकर ही अनुभव किया जा सकता है। पाँच हज़ार साल का कालखंड बहुत लंबा होता है। इस दौरान कितने ही राजों-महाराजों ने कुरुक्षेत्र को संरक्षित रखा होगा। उसकी पुण्यता को सँभाल कर रखा होगा। यहाँ के सरोवरों को बाँधकर रखा होगा। लेकिन समय के साथ हर तत्व का क्षरण होता है। कुरुक्षेत्र भी उससे अछूता नहीं रहा। मुग़लकाल में इसे बुरी तरह नष्ट किया गया। लेकिन सनातन संस्कृति का नाम ही सनातन इसलिए है कि वह हर प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपनी शेष बची राख से एक ज़िंदा महल खड़ा कर लेती है। और उसके लिए हर कालखंड में किसी न किसी रूप में कोई किरदार मिल ही जाता है। आदि शंकराचार्य, कश्मीर और भागलपुर का राजा से लेकर गुलजारीलाल नंदा ने कुरुक्षेत्र के अस्तित्व को बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

कुरुक्षेत्र की यात्रा के बिना हरि की भूमि हरियाणा की यात्रा अधूरी मानी जाती है। वैसे तो हरियाणा राज्य पूरा ही एक पुण्यभूमि है, जिसमें पग-पग पर धरती के नीचे परत-दर-परत हज़ारों साल पुरानी सनातन संस्कृति के विभिन्न स्वरूप दबे-छिपे हैं, जो पुरातत्वविदों के प्रयासों से जीवंत होते रहते हैं। लेकिन कुरुक्षेत्र का स्वरूप कुछ अलग ही है। साल 2021 में दिसंबर महीने में एक लम्बी यात्रा पर हरियाणा जाने का अवसर मिला। यह हरियाणा की पहली ही यात्रा थी। कुरुक्षेत्र के बिना यह यात्रा अधूरी थी। कुरुक्षेत्र में रहने वाले यायावर, पहाड़ प्रेमी और पत्रकार मित्र डॉ. कृष्ण कुमार ने खूबसूरती से कुरुक्षेत्र से परिचय करवाया।

सबसे पहले उस स्थान को जानने की बहुत उत्सुकता थी, जहाँ योगेश्वर कृष्ण ने महारथी अर्जुन के माध्यम से पूरे संसार को अपना अद्भुत खज़ाना श्रीमद् भगवत गीता दिया। यह स्थान ज्योतिसर कहलाता है। इसी पुण्यभूमि पर जन्मी गीता रूपी ज्योति से आज पूरा भारत और संसार जगमगा रहा है। कहा जाता है कि महाभारत युद्ध का केंद्र बिंदु ज्योतिसर ही था। यही पर एक हज़ारों साल पुराना बरगद की संतती का वृक्ष हैं, जिसके वंश को कृष्ण-अर्जुन के पुण्यशाली संवाद का साक्षी माना जाता है। योगेश्वर कृष्ण के भक्त और श्रीमद् भगवत गीता का अनुसरण करने वालों के यह किसी रोमांचक स्थल से कम नहीं है। इस स्थान पर महाभारतकालीन उस संवाद के दृश्य की सिर्फ कल्पना कर रोमांचित हुआ जा सकता है। यहाँ मौजूद सरोवर में पवित्र स्नान के लिए देशभर से श्रद्धालु आते हैं।

ऐसा कहा जाता है कि छठी सदी में अपने महान पुरुषार्थ से पूरे भारत को एक सूत्र में पिरोने वाले महापुरुष आदि शंकरचार्य ने हिमालय जाते समय इस स्थान की पहचान की थी। 1850 में कश्मीर के राजा ने इस तीर्थ क्षेत्र में शिव मंदिर बनवाया था। फिर 1924 में दरभंगा के राजा ने इसी पवित्र बरगद के पेड़ के चारों ओर पत्थर का एक चबूतरा बनवाया, जो अभी तक मौजूद है। 1967 में कांची कामकोटि पीठ के शंकरचार्य ने इसी चबूतरे के ऊपर गीतोपदेश के रथ को स्थापित करवाया और चबूतरे के नीचे शंकराचार्य का मंदिर बनवाया था।

श्रद्धालुओं को यहाँ बरगद के पवित्र वृक्ष के नीचे अपने आराध्य को याद करते हुए और भाव विह्वल होते हुए देखा जा सकता है। कुछ कृष्णभक्त उस बरगद की जड़ों को माथे से लगाकर अपना प्रणाम अपने आराध्य तक पहूँचा रहे थे। अनेक यात्री यहाँ मौजूद सरोवर में परिवार सहित पूजा अर्चना कर रहे थे।

ज्योतिसर में ही योगेश्वर कृष्ण ने अर्जुन को अपने विराट स्वरूप से साक्षात् करवाया था, उसी विराट स्वरूप की स्मृति में ज्योतिसर में बरगद के वृक्ष से कुछ फीट की दूरी पर धातु

से बना योगेश्वर कृष्ण का भव्य विराट स्वरूप स्थापित किया गया है। प्रतिमाओं की स्थापना का अपना महत्त्व है। यहाँ के स्थानीय सांसद रहे और कार्यवाहक प्रधानमंत्री रहे गुलजारी लाल नंदा का कुरुक्षेत्र को वर्तमान स्वरूप तक लाने में बहुत बड़ा योगदान है। डॉ. कृष्णकुमार, गुलजारीलाल नंदा के योगदान की चर्चा करते हुए कहते हैं कि यह उनकी ही दृष्टि थी जिसकी वजह से कुरुक्षेत्र वर्तमान स्वरूप में है। वर्ष 1975 में कुरुक्षेत्र में हुए मानव धर्म परिषद के सम्मेलन में भेजे अपने एक नोट में उन्होंने ऐतिहासिक महत्त्व की मूर्तियों, प्राचीन स्थापत्य की एंटीक चीज़ों को चोरी-छिपे दूसरे देशों में बेचने पर चिंता जताते हुए कहा था कि अगर हमने अपनी प्राचीन धरोहरों पर ध्यान नहीं दिया तो हमारे पास हमारी हज़ारों साल पुरानी सभ्यता से जुड़ी चीज़ों पर दावा करने के लिए कुछ भी नहीं बचेगा।

बहरहाल, ज्योतिसर से कुछ ही मील की दूरी पर मौजूद है ब्रह्म सरोवर। इसे ब्रह्मांड के निर्माता भगवान् ब्रह्मा से जुड़ा हुआ माना जाता है। सूर्य ग्रहण के समय इस सरोवर में पवित्र डुबकी के लिए देशभर से लाखों की संख्या में यात्री आते हैं। माना जाता है कि इस सरोवर की खुदाई कौरव और पाँडवों के पूर्वज राजा कुरु ने की थी। आधुनिक स्वरूप देते हुए इस सरोवर के चारों ओर आठ सौ से ज़्यादा दुकानें भी बनाई गई हैं। गीता जयंती के अवसर पर इस स्थान की भव्यता अनूठी होती है। रात्रि में रोशनी से नहाए इस सरोवर को देखना एक दिव्य अनुभव होता है। सरोवर के जल को नहर के पानी से चलायमान करने के कारण सरोवर का पानी हमेशा साफ-स्वच्छ बना रहता है। इस सरोवर के सामने ही धातु से बने रथ पर विराजमान कृष्ण-अर्जुन की विराट प्रतिमा महाभारत कालीन युद्ध का स्मरण करवा देती है।

सरोवर के पास ही एक द्रोपदी कूप मौजूद है। माना जाता है कि संकल्पबद्ध द्रोपदी ने महाभारत युद्ध के बाद इसी कूप पर अपने केश धोए थे। पुरातनकालीन ईंटों का कूप के चारों ओर घेरा है। इन्हें देखकर ऐसा लगता है कि इसके संरक्षण का प्रयास किया गया होगा, लेकिन मुगलकालीन आक्रमण और समय की मार ने इसे ध्वस्त कर दिया होगा। लेकिन ऐसे स्थानों का महत्त्व उनकी प्राचीनता और उसके इतिहास से होता है। इसी कुँए के पास शिवजी का सर्वेश्वर महादेव मंदिर है, जिसके बारे में कहा जाता है कि भगवान् ब्रह्मा ने इसकी स्थापना की थी।

कुरुक्षेत्र योगेश्वर श्रीकृष्ण को समर्पित है। यहाँ के रास्ते, बगीचे, नगर और संग्रहालय श्रीकृष्ण को समर्पित हैं। ऐसा ही एक संग्रहालय कुरुक्षेत्र में है- श्रीकृष्ण संग्रहालय। इस संग्रहालय में देशभर के अलग-अलग राज्यों से श्रीकृष्ण की हज़ारों साल पुरानी मूर्तियाँ, चित्र, पाँडुलिपियाँ, लीलाओं के विभिन्न स्वरूप और कई प्राचीन अवशेषों को प्रदर्शित किया गया है। मिट्टी, लकड़ी, हाथी दाँत, टेराकोटा से लेकर तमाम तरह की धातुओं पर बनी श्रीकृष्ण की चित्ताकर्षक मूर्तियाँ और चित्र यहाँ मौजूद है। इसके साथ पूरा श्रीकृष्ण जन्म से लेकर महाभारत और श्रीकृष्ण की मृत्यु तक के चित्रों की एक सुंदर अलग से तीन मंज़िला गैलरी है।

संग्रहालय के क्यूरेटर राजेंद्र राणा का समर्पण संग्रहालय में नज़र आता है। संग्रहालय दर्शन के साथ-साथ राजेंद्र राणा के इतिहास, वर्तमान और पुरातत्त्व को लेकर दिलचस्प ज्ञान ने इस यात्रा को और भी रोमांचकारी बना दिया।

000

संस्मरण

पहाड़ों में पतंगबाज़ी

मदन गुप्ता सपाटू

माना जाता है पतंगबाजी चीन ने आरंभ की। वैसे तो पूरे विश्व में विशेषत: भारत में मकर संक्रांति तथा वसंत पंचमी पर धार्मिक, सांस्कृतिक सामाजिक, और मनोरंजन या खेल की दृष्टि से पतंग उड़ाना एक शगुन माना जाता है परंतु अपने बचपन में की गई पतंगबाजी की एक अविस्मरणीय यादें होती हैं, शायद आपकी भी ज़रूर होंगी और मेरा संस्मरण पढ़ने से ज़रूर ताज़ा हो जाएँगी।

हिमाचल प्रदेश में ,सपाटू के स्कूलों में उन दिनों दिसंबर से जनवरी के अंत तक, सर्दियों की छुट्टियाँ होती थीं जिसे हम एक टाइटल के तौर पर 'दो महीने की छुट्टियाँ' बोला करते थे। बाद में यह अवकाश 15 दिसंबर से 15 फरवरी तक कर दिया गया। हमारे बचपन के समय में सपाटू में अक्सर इन दिनों बर्फ पड़ जाती है।

सर्दियों में धूप में बैठ कर, कलम दवात, होल्डर जिसे हम डंक भी कहते थे, तख्ती, काली स्याही, गजनी, लाल-नीली-हरी इंक की टिक्कियाँ पानी में घोल कर स्याही बनाते, कलम घड़ते, जी, आई और जैड के निब होल्डरों में फँसाते, किताबें कापियाँ तख्तियाँ लेकर बैठते और दो महीने का होमवर्क 15 दिन में ही निपटा लेते। बस फिर पूरा डेढ़ महीना, पिट्ठू, गुल्ली डंडा, कन्चे, अखरोट, रीठे की काली गोलियाँ, लुक्कन छिप्पी, काट कटउव्वा, तार से टायर चलाने, पतंग उड़ाने, बनफशा इकठ्ठा करने, दाड़ू छीलने, अनारदाना निकालने, चीनी व नमक के साथ चकोतरे खाने में कैसे बीत जाता, पता ही नहीं चलता। सर्दियों के दिनों में अक्सर लोग दुकानें बंद करके मैदान की यात्राओं पर निकल जाते। हमने भी 1960 में ऐसे दिनों में दिल्ली, इलाहाबाद की खूब सैर की। मकर संक्राति पर प्रयाग में नहाए।

छोटे-मोटे खेलों में, जो मज़ा पतंग उड़ाने में आता, वो कहीं नहीं आता। पतंग उड़ाना हमारे खेल का एक अहम हिस्सा होता था। जैसे छुट्टियों के सिलेबस में हो। क्या मकर संक्रांति ,क्या वसंत पंचमी ! हमारे लिए रोज़ ही मकर संक्रांति थी...रोज़ ही वसंत पंचमी थी! हमारी दुकान पर ही रंग बिरंगे पतंगी कागज़ और डोर बिकती थी। काँच का सामान बाँस से बने खाँचों में आता था जिसकी खपच्चियाँ हम सारा साल सँभाल कर रखते और सर्दियों में उससे पतंग बनाते। हमारे सपाटू में, सिखणू जी एक बुज़ुर्ग थे जो दशहरे पर रावण बनाते थे। इसके अलावा वे बाँस से टोकरी और किल्टे भी बनाते। इसलिए पतंग के लिए कान्ने यानी बाँस की पतली धज्जियाँ उनसे फ्री में मिल जाती।

लेकिन पतंग बनाना और उड़ाना अकेले के बस का नहीं था। आजकल पतंगें रेडीमेड मिल जाती हैं, उन दिनों ये मिलजुल कर ही बनाई जाती थी और इसे बनाना एक टेढ़ी खीर होती थी। मैदे की लेई बनाते या गोंद की डलियाँ घोलते पतंग के कागज़ चिपकाने के लिए। पतंगी कागज़ को डायमंड शेप में काटना है या गुड्डी शेप में ? यह तय किया जाता जैसे टेलर मास्टर कपड़ा काटने से पहले सोचता है कि इस कपड़े से पैंट बननी है या कमीज़! पतंग के सेंटर में लगने वाली पतली डंडी को 'ठड्डा' कहते थे जो आसानी से चिपक जाती थी और दो तीन चेप्पियाँ लगा कर टिक भी जाती थी। लेकिन असली कारीगरी होती थी सेमी सर्कुलर डंडी को चिपकाना जिसे हम 'चाप' कहते थे। लचीली होने के कारण, यह कई बार जल्दी से टिकती नहीं थी या फटाक से मुड़ कर पतंग का कोना ही फाड़ देती थी। कई बार इसे चिपकाने में तीन-चार यार मदद करते। फिर इसे किसी भारी चीज़ से दबा कर, सूखने तक कड़ी निगरानी में रखते। अब एक मुसीबत होती इसमें धागा बाँधना और पतंग को धागे से बार-बार उठा कर देखना कि कहीं झोल तो नहीं। बिल्कुल एक सुनार की तरह! एक लड़का देखता कि पतंग, एक साइड को ज़्यादा जा रही है या कम। जहाँ बैलेंस बनता वहीं धागे में गाँठ लगा दी जाती और फिर पतंग डोर से बँधने को तैयार....उड़ने को बेकरार।

माँझा यानी पतंग उड़ाने के लिए मज़बूत और धारदार डोर तैयार करना भी एक कला थी। यह और भी मुश्किल और रिस्क वाला काम था। मेरे कसौली वाले कज़न ने अपना अनुभव बताते हुए एक तरकीब सुझाई जो हमने घर में किसी को बिना बताए अपनाई। हमने बाबू हरी

मदन गुप्ता सपाटू
458, सेक्टर 10, पंचकूला, हरियाणा
मोबाइल- 9815619620
ईमेल- spatu196@gmail.com

राम लोहे वालों की दुकान से सरेश जो एक डली होता था, उसे खरीदा। आग पर पिघलाया। काँच तोड़ कर उसे बारीक करके कपड़े से छाना और सरेश में मिला कर और सारी डोर पर लगाया। डोर एक दम कड़क हो गई। फिर अपने घर की छत पर चढ़ कर पतंग उड़ाया। सपाटू में उन दिनों सारे घर, ढलानदार टीन की छतों के ही बने हुए थे। लेकिन पतंग, हम पूरे होशोहवास में ही उड़ाते ताकि कहीं कोई दुर्घटना न हो जाए। तीखे काँच के कारण कश्मीरी मुहल्ले की पतंगें हमने खूब काटी। उधर से आवाज़ें आती- वो काटा...वो काटा...ढील दे...... छोड़ दे..... फिर दुरगाई दे। एक दिन कोई मोटा काँच, डोर से हमारे हाथों में लग गया जिससे घाव हो गए। हम सरसों का तेल लगा कर दस्तानों से उसे एक हफ्ता छुपाए रहे और फिर पतंग उड़ाने लग गए। पतंग की ऊँची उड़ान के लिए अक्सर निचले परेड ग्राउंड में जाते या फिर बूचड़ खाने की टिब्बी पर चढ़ जाते या फिर देलगी रोड के ठड्डे पर पहुँच जाते। वहाँ हवा बहुत तेज़ होती और हमारी पतंग बहुत ऊँची उठान लेकर, दूर तक उड़ती जिसे देख कर मन में अजीब सी झुरझुरी उठती। कई बार हवा का रुख बदलने से या दबाव कम होने से पतंग एक दम खड्ड या खाई में ही गिर जाती और हम डोरी इकटठी कर के घर लौट आते। नई पतंग बनाते फिर उड़ाते।

कसौली से मेरा कज़िन अमरचंद आ जाता और हम खूब पतंगें उड़ाते। सपाटू में उन दिनों कोई बेकरी नहीं थी। धर्मपुर या कसौली से ही बहत बढ़िया बंद, रस, केक, डबलरोटी आती। हमारी बुआ, कसौली से हमारे लिए कनस्तरों में बिस्कुट ले आते और सपाटू में हमारे घर में 4 किस्म की पिन्नियाँ बना कर कनस्तरों में भर दी जाती। हल्दी, आटे, मैदे और अलसी की पिन्नियाँ। बाज़ार के हलवाई गाजर पाक और अलसी की ख़ास तौर पर पिन्नियाँ बनाते।आज भी बनाते हैं। पिन्नियाँ, बिस्कुट खाना और पतंग उड़ाना एक दिनचर्या रहती।

पतंगों की अलग-अलग किस्में थी। मुझे गुड्डी पसंद थी क्योंकि उसकी शेप कुछ अलग होने से और लम्बी पूंछ होने से वह आसमान में एक दम उड़ जाती। पतंग को एक लड़का दुरगाई देता और यह डोर खींचते ही आसमान में लहराने लगती। ज़्यादातर हम अपनी छत से ही पतंगें रोज़ उड़ाते, रोज़ कटवाते और रोज़ बनाते। पतंगों का सामान दुकान पर ही था। और हमारे बाबू जी ने हमें इस मामले में खुली छूट दे रखी थी। हमारी पतंगे, कश्मीरी मुहल्ले से पतंग उड़ाने वाले अक्सर काट देते। मेरी पसंद जामुनी रंग की लम्बी पूँछ वाली गुड्डी पतंग थी जो खूब लहराती हुई आसमान छूती दिखाई देती।

वसंत पंचमी वाले दिन आकाश में पीली-पीली पतंगें ही दिखती। रात को सबको इंतज़ार रहता लाला सुंदर लाल कंसल, कपड़े वालों के गुब्बारों का। अँधेरा होते ही लाला सुंदर लाल, अपने हाथों से पतंगी कागज़ से बनाए गुब्बारे खुले मैदान में ले आते। नीचे मिट्टी के तेल में भिगोए कपड़े में आग लगा कर उन्हें उड़ाते। कारीगरी ऐसी कि मजाल है कोई गुब्बारा बीच में जल जाए या न उड़े। पूरा बाज़ार रात को उड़ते हुए रंग-बिरंगे गुब्बारों का लुत्फ़ उठाता। सामने शिमला जगमगाता दिखता। गुब्बारा एक जलते हुए बिंदु के रूप में कहीं ओझल हो जाता लेकिन हम चिल्लाते...इठलाते कि हमारा गुब्बारा शिमला में गिरा। 2021 की दिवाली पर हमने ऐसे रेडीमेड गुब्बारे लिए जिनमें से कुछ उड़े कुछ नहीं।

पतंगबाज़ी का यह सिलसिला ख़त्म हो गया। फिर मौका मिला चंडीगढ़ में 2020 में, जब हमने थियेटर फॉर थियटर, जिसका मैं अध्यक्ष भी हूँ, ने लेज़र वैली में, एक मासिक फेस्टिवल के कार्यक्रम में पतंग उड़ाने की प्रतियोगिता रखी। ये पतंग विशेष मैटीरियल के बने होते हैं और काफी भारी होने के बावजूद एकदम ऊँचाई पर पहुँच जाते हैं। ये काफी महँगे होते हैं। आप इन्हें विभिन्न आकारों में टी.वी पर भी अक्सर देखते होंगे, जो आजकल बड़े नगरों में, ख़ास-ख़ास मौकों पर अक्सर उड़ाते हैं।

उम्मीद है आपने पुरानी फिल्में- 'दिल्लगी' , 'भाभी' ,'पतंग' और 'कटी पतंग' तो देखी ही होंगी। सन् 1949 में आई फिल्म- 'दिल्लगी' का गाना-'मेरी प्यारी पतंग चली बादलों के संग' भी शायद याद हो। लेकिन 1957 में आई 'भाभी' फिल्म में जगदीप पर फिल्माया गीत -'चली चली रे पतंग मेरी चली रे' भी ज़रूर गाया होगा। राजेन्द्र कुमार -माला सिन्हा की 1960 में आई थी 'पतंग' फिल्म भी देखी होगी। इसमें रफी साहब का एक गाना- 'ये दुनिया पतंग.. नित बदले ये रंग .. जाने उड़ाने वाला कौन है', हास्य कलाकार ओमप्रकाश और मोहन चोटी पर बड़ी मस्ती से फिल्माया गया था। मौका लगे तो पतंग का जीवन दर्शन जानने के लिए इसे अब यू ट्यूब के माध्यम से देखिए ज़रूर। फिर राजेश खन्ना की 'कटी पतंग' आई और नारी की वेदना को कटी पतंग के माध्यम से दर्शाया गया - 'मेरी ज़िंदगी है क्या....एक कटी पतंग है'। और 1993 में शबाना आजमी की भी आई 'पतंग'। ऐसे बहुत से फिल्मी और गैर फिल्मी गाने और भी हैं जिनमें उड़ती गिरती, फटती , कटती पतंगों के माध्यम से जीवन के विभिन्न पहलुओं को दर्शाया गया है। फिल्म 'काई पो छे' में भी एक गाना पतंग महोत्सव के जोश को चित्रित करता है और पतंग, आसमान, उड़ान, माँझे के गिर्द घूमते हुए ज़िंदगी के रिश्तों, जज़्बों की दास्तां बयाँ करता है।

यह भी मान्यता है कि पतंग उड़ाने से शरीर को ऊर्जा मिलती है, धूप में रहने से विटामिन डी तो मिलता ही है, साथ में त्वचा तथा हड्डियों संबंधी बीमारियों में भी राहत मिलती है। यही नहीं पतंग उड़ाते समय जो हर्षोल्लास मिलता है, वह आपको टी.वी या सोशल मीडिया पर नहीं मिल सकता। पतंग मात्र उड़ाने की चीज़ ही नहीं अपितु एक संपूर्ण जीवन भी है। उड़ती पतंग खुशी देती है, गिरती हुई मायूसी। आसमान में उड़ते हुए यह एक आज़ादी का एहसास कराती है। इसकी डोर मनुष्य की जीवन डोर की याद दिलाती है। डोर कच्ची हो तो पतंग ज़मीं पर आ गिरती है। ज़िंदगी की डोर कच्ची हो तो आदमी की हालत भी कटी पतंग जैसी हो जाती है। यह पतंग कागज़ का टुकड़ा नहीं अपितु जीवन जीने की कला है। जब रंगबिरंगी पतंगें

आकाश में लहराती हुई, आपस में लड़ती, काटती, पीटती, बातें करती, अठखेलियाँ करतीं हमारे सपनों की तरह ऊँचाइयाँ छूती हैं तो उन्हें देखने का आनंद और ही होता है।

कई देशों में अब विभिन्न आकारों, शक्लों के पतंग उड़ाए जाते हैं। अमृतसर, अहमदाबाद, लखनऊ आदि कई नगरों में पतंग फेस्टिवल होता है या प्रतियोगिताएँ होती रहती हैं। पहले कई शहरों में पतंगें बनाने वाले हुआ करते थे। कंप्यूटर और मोबाइल पर गेम्ज़ आने से बच्चे खुले वातावरण का आनंद नहीं उठा पा रहे। पतंग बनाने वाले एक्सपर्ट भी नहीं रहे। जगह की कमी, पढ़ाई का बोझ, कोरोना का डर! कई नगरों में अब सिल्वर, गोल्डन कलर की पतंगें भी मिल रही हैं। हमारे समय पतंगी कागज़ में कुछ रंग ही होते थे। अब अमेज़ॉन से ऑनलाइन बच्चों को पतंगों का 30 का पैक, डोर और चरखी सहित मँगवाया जा सकता है। मल्टी कलर, चील, अडडी, तवा साइज, गुडडा, गुडडी, अफगानी, बाम्बे हाफ, त्रिवेनी, तिरंगा, पौनी, इंडियन फाईटर आदि पतंगों के नए नाम हैं। डोर प्लास्टिक की आने लगी है जिसके कारण कई दुर्घटनाएँ भी हो चुकी हैं। बैटरी से चलने वाली स्पूल यानी हमारे वक्त की चर्खी है जिसमें बटन दबाते ही डोर इकट्ठी हो जाती है। आप भी स्कूटर या साइकिल चलाते या पैदल चलते ध्यान रखें कि कहीं प्लास्टिक की तार गिरी हुई या सड़क के मध्य लटकी तो नहीं।

हम जब पतंग उड़ाते थे तो एक लड़का तो डोर सँभालने की ड्यूटी निभाता और बारी बारी से पतंग उड़ाते। कट जाती तो लड़ भिड़ कर अपनी घायल पतंग उठा लाते; लेई या गोंद से चेप्पी लगा कर फिर उसे उड़ाने की कोशिश करते। पतंग काटने और डोर लूटने का अपना ही मज़ा होता था।

परंतु पतंगबाज़ी का जो लुत्फ आपने भी अपने बचपन में उठाया होगा वह कभी बाद में नहीं मिला होगा।

इसी लिए तो कहते हैं- बचपन के दिन भी क्या दिन थे... उड़ते रहते... तितली बन...

000

लघुकथा

रेस

सरिता गुप्ता

"क्या देख रही हो ? तुम भाग नहीं ले रहीं कॉम्पिटिशन में?" समिधा को खेल के मैदान की तरफ देखते हुए मैंने पूछा।

"नहीं।" बहुत धीमी आवाज़ में उसने कहा।

"क्यों ?"

"घरवालों ने मना कर दिया। बोलते हैं, बड़ी लड़की का बाहर जाना ठीक नहीं है।"

"तो क्या तुम भाग नहीं लोगी ? स्कूल की सबसे तेज़ धावक हो। जिले में ही तो जाना है तुम्हें। सिर्फ दो दिन एक रात की ही तो बात है। और फिर तुम्हारी सहेलियाँ भी साथ में होगीं। फिर कैसा डर ? मैं बात करके देखूँ अंकल जी से ?"

"नहीं विवेक, पापा मुझे इतनी दूर स्कूल में पढ़ने के लिए भेज देते हैं, यह क्या कम है। तुम बात करोगे तो और भड़क जाएँगे। दूसरी बात, मेरे पास हाफ कपड़े भी नहीं हैं भाग लेने के लिए। तुम अपनी कबड्डी पर ध्यान दो, मेरी चिन्ता छोड़ो।" समिधा अनमनी सी उठकर क्लास में चली गई।

मैं उसे रेस हारते हुए देख रहा था।

000

सरिता गुप्ता, गंगाराम वाली गली, गांधीनगर पोरसा, जिला-मुरैना(म.प्र.), -476115

मोबाइल- 9713509474

ईमेल- saritargupta9474@gmail.com

फूफी

सुनील चौधरी

फूफी अक्सर अपने जीवन के किस्से सुनाया करतीं। लेकिन जब वे ख़ामोश व मायूस होती तो कुछ न कुछ बड़बड़ाती रहतीं। आज फूफी पैर में महावर रचाए, माँग में सिंदूर, अँखियों में काजल, माथे पर बिंदी, कानों में झुमके पहने व पैरों में पायल बाँधे, सतरंगी साड़ी में सजी बैठी थीं। गाँव भर में जो भी देखता वही कहता- बुढ़िया पागल हो गई है और इतना कहकर आगे बढ़ जाता लेकिन मैं फूफी को काफी देर से देखे जा था। पास ही भौंकते कुत्तों की आवाज़ भी कान के परदों को चीरकर अंदर तक झनझना रही थी। मैं भी घर की छत से उतरकर फूफी के पीछे खड़ा हो गया तो फूफी गुनगुना रही थीं-

दुल्हन बन सजाऔ री सखी
मैं भी जाऊँ ससुराल
हिलमिल गाऔ री सखी
मैं भी जाऊँ ससुराल।

फूफी गाए जा रही थीं और आँखों से झरते आँसू फूफी के पैरों को धो रहे थे। मैं आश्चर्यचकित था कि पचहत्तर साल की फूफी को हुआ क्या है? हालाँकि बीते दिनों वे कभी चुनरी उतार फेंकती थीं तो कभी बाल फैलाकर चबूतरे पर बैठ जातीं और रास्ते से आने-जाने वाले लोगों को गालियाँ बकतीं। आज समझ न आया कि फूफी को हुआ क्या है? हम बच्चे इतना भर सुनते आए थे कि फूफी ने अपने जवानी के दिन अपने यहाँ न जीए थे। वे सैंतीस की होते-होते घर लौटी थीं और जब लौटकर आईं थी तो सुबह-शाम गाँजा घिसकर पीती, रात-दिन भर हुक्के पर चिलम चढ़ी रहती और रात-रात भर गीत गुनगुनाती-

आज अँधेरी रात
बालम कब आऔगे
बुझी पड़ी है आग
बालम कब सुलगाओगे

यही गुनगुनाते-गुनगुनाते वह अचानक से हँसने तो कभी रोने लगतीं, लेकिन घर का कोई मर्द कुछ न कहता। दिन के उजाले के होते-होते फूफी की आँखें मुँदतीं और अँधियारे के बढ़ने के साथ ही खुलतीं। जब खुलती तो वे छत पर चढ़ जाती और पूरे गाँव के मर्दो को गालियाँ बकती। मैंने खाट पर पड़े-पड़े अक्सर यह गालियाँ सुनी थी। जिनमें औरतों और लड़कियों का ज़िक्र कभी न होता सर्फ और सिर्फ मर्द होते। एक दिन देखा कि अँधेरे में हुक्के पर रखी चिलम सुलग रही है व फूफी के पास से धुँए का गुबार उठ रहा है जिसमें फूफी गुम हो गई है और फिर अचानक से उठकर फूफी ने जगमग करते जुगनू को पकड़कर जोरों से मसल दिया।

बचपन में फूफी को व उनकी हरकतों को देखकर मैं डरता और कभी पास जाने का साहस

सुनील चौधरी
शोधार्थी (अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी)
गाँव और पोस्ट - बल्टीकरी, तहसील-महावन, जिला-मथुरा, उप्र- 281308
मोबाइल- 9756018177
ईमेल- sunilsamay12@gmail.com

न जुटा पाता लेकिन आज फूफी के पास अनायास ही खिंचा चला गया था। उनकी खाल पर सतरंगी साड़ी लहरा रही थी, साड़ी का घूँघट श्वेत केशों व मुख को सहला रहा था। मैंने फूफी को आवाज़ लगाई तो फूफी ने पलट कर देखा और मुझे वहीं पास में खाट पर बिठा लिया। जब मैंने पूछा कि -फूफी क्या हुआ? तो उन्होंने कहा-आज मेरा ब्याह है, तू अकेला ही आया है।

मैं जानता था कि फूफी कभी-कभी ठीक से बात भी करती है इसलिए कम ही डर था फूफी से। मैंने भी पूछ लिया कि - अब ब्याह कर रही हो जब उम्र ढल गई है ? तो वे कहने लगी - तो बेटा, लाला जानता ही क्या है ? जब मैं ग्यारह साल की थी मेरे बाप ने मुझे ज़मींदार को देकर अपने पुरखों की ज़मीन बचा ली और ज़मींदार ने साफ-साफ कह दिया था कि जब तक पाई-पाई का हिसाब न होगा तब तक यह हमारे घरों की सफाई और हमारे खेतों में काम करेगी। मैं जब ज़मीदार के यहाँ पहुँची तो मैं अकेली न थी। मेरे जैसी अनेक वहाँ उपस्थित थी। हम चिलचिलाती धूप में दिनभर काम करतीं व खाने के रूप में सिर्फ सूखी बासी झूठी रोटियाँ पाती। शाम को घर भर के काम करने के बाद एक अँधेरे बंद कमरे में एक-दूसरे से सटकर माँ-बाप को याद करते हुए आँसू बहातीं, लेकिन न कोई बाप आता न कोई माँ।

वक़्त के साथ हम सभी जवान हो रही थीं व देखते ही देखते चार साल गुज़र गए थे। ज़मींदारों के यहाँ रहने वाले व आने वाले मेहमानों, रिश्तेदारों के मुँह से लार टपकनी शुरू हो गई थी। हम चार ही सहेलियाँ थीं, जिनके सीने वक़्त से पहले फूल चले थे, कंधे भारी हो चले थे, कद-काठी बढ़ चली थी। अब हम चारों को अलग-अलग कमरे मिले, चारों ही दु:खी थी क्योंकि अब अकेले रहना होता लेकिन उम्मीद थी कि कल को हम अपने माँ-बाप के पास जाएँगे, हमारा विवाह होगा। क्योंकि ज़मींदार के बेटे के ब्याह की धूमधाम पर हम चारों को ब्याह की रंगीन दुनिया दिख गई थी। अब अक्सर हम चारों मिलती तो एक ही गीत गातीं-

चलौ री सखी, हिलमिल गाऔ
हमऊ जाएँ पीहर कूँ
पहरि हरी-हरी चूड़ियाँ
पहरि सतरंगी चुनरिया।
लगाइ कजरा कारौ
पहरि बिछिया न्यारौ
हमऊ जाएँ सासुरे कूँ
चलौ री सखी, हिलमिली गाऔ।

चारों मिलकर बहुत देर तक गाती रहतीं और फिर काम पर लग जातीं। चटनी से सूखी रोटियों की आदत हो ली थी और कमरे में भी नींद आने लगी थी लेकिन कमरे में अँधेरा बहुत रहता। एक दिन अचानक दरवाज़ा खटका।

मैंने पूछा - कौन ?

तो ज़मींदार था। मैंने दरवाज़ा खोल दिया तो हाथ में दिया लिए एक आदमी अंदर आया। ज़मींदार दरवाज़े से ही लौट गया। उसने अंदर आते ही दिये को बुझा दिया और साँकल बन्द कर दी। वह मेरे बदन को छूने लगा, कभी मेरे उभार छूता तो कभी मेरे गाल व होठों को, कभी मेरी कमर पर हाथ फिराता। मैं गुस्से में चिल्लाने लगती तो गालियाँ देते हुए कहता-

"साली, हरामज़ादी चुप बिलकुल।"

मैं ज़ोरों से चीखती लेकिन कोई दरवाज़ा न खोलता। शरीर भी कमरे में भागते-भागते थका जा रहा था और आख़िर में उसने मुझे पकड़ कर फर्श पर पटक ही लिया। मेरे कपड़े तार-तार कर दिए। मैं पूरी रात चीखती रही, गालियाँ बकती रही, लेकिन कोई न आया। मन में बार-बार आता कि मेरा ऐसा क्या दोष था कि गुज़रना पड़ रहा था ऐसी पीड़ा से। वह तो सुबह उठकर चला गया लेकिन मैं न उठ सकी, दिन भर फर्श पर ही पड़ी रही। सूखी रोटियाँ मेरे कमरे में दरवाज़े से ही सरका दी गईं। लेकिन मैंने उनको छुआ भी नहीं यही सोचकर कि यही रोटियाँ हैं जिन्होंने मुझे जवान कर दिया है। पूरे दिन रोती रही माँ-बाप को याद करती रही। ज़मींदार आया तो उसको भी कह दिया कि मुझे मेरे माँ-बाप के यहाँ भिजवा दे, वे मेरा ब्याह करेंगे। उसने कहा कि ब्याह की रस्में ही निभा यहाँ रहकर ,ब्याह के बाद जो होता है सब यहीं मिलेगा तुझे और फिर चलता बना।

मैं सोच में थी कि बीती रात जो गुज़री मेरा ब्याह हुआ था तो कभी ब्याह न करूँगी लेकिन जैसे- जैसे दिन गुज़रते कोई न कोई कमरे में दिया लेकर दाखिल होता व झकझोरकर चला जाता। मैं भी लाचार थी। कुछ कर भी नहीं पाती थी और जब-जब भागने का प्रयास करती तो पकड़ ली जाती। उन दिनों दरवाज़े को खुला छोड़ दिया जाता और दिन-रात चहलकदमी होती रहती और मैं फर्श पर पड़ी बिलखती रहती।

एक दिन बाकी तीन सहेलियों से भी मिलना हुआ। उस दिन ज़मींदार का पूरा परिवार कहीं बाहर गया हुआ था, तो हम चारों ने जाना कि चारों की हालत एक जैसी थी। मैं वापस अँधेरी कोठरी में लौटकर गाने लगी -

हारि चुकी हूँ
अब तौ पारि उतारौ
प्रभु! दुखियारी को दर्द से
अब तौ देऔ छुटकारौ
हे प्रभु! अब तौ पारि उतारौ।

जिस प्रभु को गालियाँ देती उसी से जीवन की भीख माँगती लेकिन न मर रही थी न जी पा रही थी। उम्र भी सैंतीस की हो चली थी कि अचानक माँ-बाप आ धमके। वे मुझे पहचान ही न सके थे और मैं भागकर उनसे गले लग गई थी लेकिन घर पहुँचकर उनसे कई साल बात न की थी। खाती-पीती और सोई रहती क्योंकि जान गई थी कि खेत की ख़ातिर ज़मींदार के यहाँ गिरवी थी। जब-जब सोचती तो मर्दो से घृणा होती। इतना कहते-कहते फूफी ख़ामोश हो गई थी।

मैंने पूछा - आज क्यों दुल्हन बनी बैठी हो? तो बोलीं कि-कल एक से सुना था कि ब्याह होने पर महावर रचायी जाती है,काजर लगाया जाता है और अचानक से फूफी ज़ोरों से हँसने लगी और बोली कि फिर पति के साथ एक ही बिस्तर पर सोया जाता है इतना कहते-कहते सच में खाट पर सो गई थी। फूफी ऐसी सोई थी कि घर भर के लोग जगाते रहे लेकिन फूफी न उठी।

000

ललित निबंध

भाषाई सवाल

डॉ. वंदना मुकेश

डॉ. वंदना मुकेश
35 ब्रुकहाउस रोड, वॉलसॉल, WS 5 3AE, इंग्लैंड
मोबाइल- +44 7886777418
ईमेल- vandanamsharma@hotmail.co.uk

कल हमारे बहुत ही आत्मीय बंधुवर डॉ. हरजोत सिंह हमारे यहाँ पधारे थे, आइए, पहले आपका परिचय करा दूँ हरजोत से। पेशे से तो वे मेरे पति की ही भाँति निश्चेतना विशेषज्ञ हैं। लेकिन उन्होंने विशेष रूप से हृदय की शल्य चिकित्सा के दौरान रोगी के जीवन की टिक-टिक सँभालने में महारत हासिल की है। जिसे अंग्रेज़ी में 'कार्डियक एनेस्थीटिस्ट' कहते हैं।

हरजोत की पत्नी मोनिका सही अर्थों में अपने पति की सहधर्मिणी है वह बच्चों को लेकर ईस्टर मनाने भारत गई हुई है। हरजोत की ज़िदादिली, हाज़िरजवाबी, कर्मठता, परिश्रम, की जितनी भी प्रशंसा की जाए कम ही है। परदेस में मेरे बच्चों के लिये एक चाहनेवाला, प्यार करनेवाला मार्गदर्शन करने वाले चाचा मिल गया, मेरे पति को एक छोटा भाई, एक सच्चा मित्र और मुझे एक अच्छा सा, प्यारा सा, सम्मान करनेवाला देवर मिल गया। परदेस में जिसके पास इतना सब हो गया वह तो दौलतमंद हो गया।

दरअसल हुआ यों कि एक और निश्चेतना विशेषज्ञ हमारे घर आई हुई थीं और बात चल निकली कि भारतीय, पाकिस्तानी और बांगलादेशी प्रवासी जो ब्रिटेन में अनेक वर्षों से रह रहे हैं वे अंग्रेज़ी न आने पर किस तरह अपनी आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। मैं प्रौढ़ शिक्षण से जुड़ी हूँ, अंग्रेजी की व्याख्याता हूँ और उन प्रवासियों को अंग्रेज़ी पढ़ाती हूँ जिनकी प्रथम भाषा अंग्रेज़ी नहीं है। हमारे छात्र भिन्न भाषा भाषी , विभिन्न राष्ट्रीयता और भिन्न आयु वाले होते हैं 19 साल से लेकर 70 साल तक। अंग्रेज़ी सीखने के कारण सबके जुदा होते हैं। भारतीय, पाकिस्तानी और

बांग्लादेशी छात्रों को अंग्रेज़ शिक्षकों के साथ झिझक रहती है वहीं भारतीय उपमहाद्वीप के शिक्षकों को देख कर उन्हें बड़ी राहत मिलती है। एक कक्षा में लगभग 55-60 के लगभग की एक मीरपुरी छात्रा मेरे पास आईं और कहने लगीं,

"टीचर जी ते कल्ल् ते हुण टैहगी सी.."

शायद उन्होंने मन में धारण कर लिया था कि इसे तो मीरपुरी आती ही होगी और मुझे तो यह भी नहीं पता था कि मीरपुरी कोई ज़बान भी होती है। मुझे कुछ भी समझ में नहीं आया सो मुस्कराते हुए मैंने उन्हें हाथ पकड़ कर कुर्सी पर बैठा दिया। संभवत: मेरे चेहरे के नासमझी के भावों को समझकर और मेरी ग़लत प्रतिक्रिया पर तरस खाते हुए एक अन्य छात्रा ने मुझे समझाते हुए बताया, "टीचरजी, यह कै रीं है कि कल जे बेहोश हो गई सी" तब मैंने उनकी मदद से दोबारा घटनाक्रम पूछा और सांत्वना प्रकट की, कि "ओह, आय एम रियली सॉरी।" तब उन्हें तसल्ली हुई। लेकिन मेरे भीतर का भाषाविद् जागृत हो गया कि "टैहगी" की व्युत्पत्ति "ढह गई" से हुई होगी।

हमारी परिचिता भी बताने लगीं कि एक पाकिस्तानी महिला रोगी अपने 25-26 साल के बेटे के साथ अस्पताल में बैठी हुई थी, कुछ घबराई-सी। जैसे ही उसने इन डॉ. साहिबा को वहाँ देखा कि उसके गले में आवाज़ आ गई।

बेटे से बोलीं,"तूने जाणा ए ते जा, अब कोई लोड नईं ए मेरी बाजी ऐं इत्थे।" अपनी भाषा बोलने या समझने वाला कोई तो है, इस बात का सुख भी मेरी दृष्टि में तो परमानंद की प्राप्ति का ही एक प्रकार है। यह बाद में ही पता चला कि वह विशुद्ध पंजाबी शब्द 'लोड' अर्थात् चिंता का प्रयोग कर रही थीं और मैं उसे अंग्रेज़ी का 'लोड' समझ रही थी क्योंकि भाव तो दोनों का एक ही था। हमारी डॉ. साहिबा एक और किस्सा सुनाने लगीं कि वे अक्सर एक टैक्सीवाले की सेवाएँ अस्पताल जाने के लिये लेती थीं । एक बार वे उस टैक्सी ड्राइवर से बात करने लगीं टैक्सी ड्राइवर ने उन्हें बताया कि,"जी मैं हलाडिये वास्ते गया सी।" हमारी परिचिता ने अर्थ समझने में अपनी सारी बुद्धि लगा दी किंतु "हलाडिये" की पहेली न सुलझा सकीं।

तब तक टैक्सी ड्राइवर ने पुन: अपनी बात दोहराई, "जी ए वारी हलाडिये वास्ते सकाटलैंड गया सी।"

तब उन महोदया को समझ में आया कि वे महाशय "हॉलीडे" पर स्कॉटलैंड गए थे। इस तरह की बातचीत हो रही थी कि हरजोत कहने लगे कि मेरा शिक्षण तमिलनाडु में हुआ सो मैं तमिल में बोल सकता हूँ लोग सोच भी नहीं सकते कि सरदार तमिल बोलता होगा। फिर उन्होंने बताया कि अक्सर अस्पतालों में अंग्रेज़ डॉक्टर पंजाबी मरीज़ों से बात करने के लिये दुभाषिये को खोजते हैं एक बार उनके अंग्रेज़ डॉक्टर ने उन्हें अपने मरीज़ से पंजाबी में कुछ प्रश्न पूछने के लिये कहा, इन्होंने पूछा,

"त्वानु कोई एलर्जी-शलर्जी ते नईं।" मरीज़ ने जवाब दे दिया । फिर अंग्रेज़ी से पंजाबी अनुवाद किया कि "होर कोई रिएक्शन-विएक्शन ते नईं ए।" मरीज़ ने फिर जवाब दे दिया । अंग्रेज़ डॉक्टर हँसा और बोला, "अरे, इसमें पंजाबी कहाँ है? तुमने तो एलर्जी और रिएक्शन का अनुवाद तो किया ही नहीं।" बात चाय की चुस्कियों में हँसी में उड़ गई लेकिन मेरे मस्तिष्क में उथल-पुथल होने लगी।

"प्लीज़" यह "टेबल साईड" में "मूव" कर देना। "गेस्ट" आ रहे हैं।"डेजर्ट" के लिये बाज़ार से "मैंगो पल्प" ज़रूर ले आना। सुनो ज़रा यह मेज़ कोने में सरका देना। मेहमान आ रहे है। मीठे के लिये बाज़ार से आमरस ज़रूर ले आना।

मुझे अक्सर कई मित्रों-परिचितों से सुनना पड़ता है कि आपके सामने हिन्दी बोलने में डर लगता है। क्योंकि मेरी हिन्दी बहुत 'शुद्ध' है। मैं सोच में पड़ जाती हूँ कि क्या मेरी भाषा लोगों को आतंकित कर देती है? जब मैंने 'चाची' कहानी लिखी, तो यहाँ के एक वरिष्ठ लेखक को भी वह कहानी भेजी उन्होंने टिप्पणी भेजी कि, "वन्दना, आपकी कहानी का विषय बहुत मैच्योर है। बधाई! कहानी में संवाद का खुल कर इस्तेमाल किया गया है। यह कहानी की विशेषता भी है और कमी भी। समस्या यह है कि आपने चरित्रों पर अपनी पीएॅच.डी. वाली भाषा थोप दी है। वे सीधे-सीधे वन्दना की भाषा का इस्तेमाल करते हैं। जबकि हर चरित्र की भाषा की अपनी विशेषताएँ होती हैं। चरित्रों को स्वतन्त्र रूप से पनपने दें और अपनी भाषा बोलने दें। आप चरित्रों वाली भाषा एक लेखक के तौर पर न बोलें और चरित्रों पर अपनी भाषा न थोपें"।

मुझे उनकी टिप्पणी पढ़कर कृतज्ञता का भाव उत्पन्न हुआ । इसलिये कि, वे वरिष्ठ कथाकार हैं और उन्होंने न सिर्फ मेरी कहानी पढ़ी बल्कि टिप्पणी देने के लिये भी समय निकाला। वैसे भी कबीरदास जी कह ही गए हैं कि 'निंदक नेड़े राखिये आँगन कुटी छवाय,बिन साबण पाणी बिना निर्मल करै सुभाय' । लेकिन साथ ही मुझे लगा कि उनके जीवनानुभव मेरे जीवनानुभवों से एकदम भिन्न हैं। संभवत: उनके संपर्क में आए किसी व्यक्ति को उन्होंने इतनी शुद्ध भाषा बोलते हुए नहीं सुना होगा। सच तो यह है कि बहुत से लोग घर में बोलचाल के लिये परिष्कृत-संस्कृतनिष्ठ हिन्दी भाषा का प्रयोग सहज रूप में करते हैं। हमें ऐसा क्यों लगता है कि अंग्रेज़ी युक्त हिन्दी अथवा पंजाबी युक्त हिन्दी या गाली-गलौज़ की भाषा ही पात्रों के द्वारा बोली जाए तो सर्वाधिक उपयुक्त और ग्राह्य होती है?

इसी से एक बात और ध्यान में आती है। आजकल भारत में टीवी, ट्यूब आदि पर तथाकथित 'स्टेंड अप कॉमेडियन' जिस धड़ल्ले से अंग्रेज़ी और हिन्दी की गालियों का प्रयोग लोगों को हँसाने के लिये करते हैं उन्हें सुनकर सिर शर्म से नीचा हो जाता है। यही लोग युवाओं के 'रोल मॉडल' हैं। आज की युवा-पीढ़ी जितनी अभद्र भाषा का प्रयोग करती है उसे सुनकर यह समझ में आता है कि राम, भगवान् क्यों थे और रावण राक्षस! युवाओं द्वारा अभद्र भाषा का प्रयोग कदापि 'कूल' नहीं है। भाषा हमारे व्यक्तित्व का परिचायक होती है। अच्छी भाषा ही अच्छे विचारों को वहन कर सकती है।

बात यहीं खत्म नहीं होती। आजकल हिन्दी–उर्दू विवाद जिस प्रकार तथाकथित देश प्रेमियों, साहित्यकारों आदि में चल रहा है

उससे लगता है कि हमारी वसुधैव कुटुंबकम वाली समन्वयकारी, सहिष्णु एवं उदार संस्कृति के ये तथाकथित पक्षधर वॉट्सएप समूहों में कुत्ते-बिल्लियों की तरह लड़ते हैं, समूह छोड़ कर चल देते हैं, नया समूह बना लेते हैं.....

खैर यह एक अलग मुद्दा है इस पर फिर कभी फुरसत से चर्चा होगी। फिलहाल तो, यही सोच रही हूँ कि हिन्दी भारत के माथे की बिंदी इसलिये है कि वह उदार है, उसमें अन्य भाषाओं के शब्द हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप प्रयुक्त किये जाने की ऐसी परंपरा है कि हम भूल भी गए हैं कि यह शब्द गृहीत है। उदाहरण के लिये लालटेन- जिसे आमजन हिन्दी का मानता है उसका जन्म ईस्ट इंडिया कंपनी आने के बाद हुआ। अंग्रेज़ी का लैंटर्न हिन्दी में लालटेन बन गया। कप्तान, अस्पताल, अटैची, रेल, वापस, चाबी, आलू, बारात, पर्दा, दस्तूर, पलंग, रिक्शा, शिकायत, चारपाई जैसे अनेक अनेक शब्द हैं जो अन्य भाषाओं के होते हुए भी हिन्दी की शब्दावली में सहज रूप से प्रयुक्त होते हैं। यहाँ तक कि चाय भी हिन्दी का शब्द नहीं है ।

हिन्दी भाषा नए-नए शब्दों से निरंतर समृद्ध होती रही है। अपना एक और अनुभव साझा करती हूँ, अपने एक रोमां जिप्सी छात्र को अंग्रेज़ी में 'डॉक्टर से मुलाकात' विषय पढ़ाते हुए सहज जिज्ञासावश पूछ लिया कि आपकी भाषा में आँख, नाक और कान को क्या कहते हैं? उसका जवाब सुनकर मैं चकित रह गई उसने आँख पर अँगुली रखते हुए कहा- 'आय'- आँका, नाक- 'नोज़'- नाका तथा इअर –काना।

कबीरदास जी ने तब जान लिया था कि भाषा बहता नीर है। चार कोस पर पानी बदले आठ कोस पर बानी... इत्यदि कहावतें यों ही तो नहीं बन गईं। मन में बातें तो बहुत उमड़-घुमड़ रही हैं। लेकिन इससे पहले कि बच्चे 'भूख लगी है' का शोर मचाएँ, मैं खाना बनाऊँ। लेकिन डॉ. हरजोत को धन्यवाद न दिया तो बात अधूरी रह जाएगी। आपसे इतनी बात उन्हीं के कारण संभव हो सकी।

000

ग़ज़लें

विज्ञान व्रत

मैं जब ख़ुद को समझा और
मुझमें कोई निकला और
यानी एक तजुरबा और
फिर खाया इक धोखा और
होती मेरी दुनिया और
तू जो मुझको मिलता और
मुझको कुछ कहना था और
तूजो कहता अच्छा और
मेरे अर्थ कई थे काश
तू जो मुझको पढ़ता और

000

क्या तस्वीर बनायी थी
क्या तस्वीर दिखायी दी
क्या पूछो बीनाई की
तू ही तू दिखलायी दी
मैंने लाख दुहाई दी
उसने कब सुनवाई की
उसने आकर महफ़िल में
मंज़र को रानाई दी
नादाँ हूँ क्या समझूँगा
ये बातें दानाई की

000

जिस्म जिसका है बयाँ मुझमें
कौन है ये बेज़बाँ मुझमें
जो रहा होकर कभी मेरा
वो मिलेगा अब कहाँ मुझमें
था सितारों से कभी रौशन
क्या हुआ वो आसमाँ मुझमें
जो बनाया था कभी तूने
अब नहीं वो आशियाँ मुझमें
डूबने का शौक़ था तुमको
लो हुआ दरिया रवाँ मुझमें

000

ख़ामुशी मेरी ज़बाँ है
वो मगर सुनता कहाँ है
सामने हैं आप लेकिन
आप तक रस्ता कहाँ है
जानता हूँ दुश्मनों को
फिर मुझे ख़तरा कहाँ है
छोड़िए भी मुस्कराना
दर्द चेहरे से अयाँ है
ढूँढ़ना क्या है तुझे अब
मैं जहाँ हूँ तू वहाँ है

000

और सुनाओ कैसे हो तुम
अब तक पहले जैसे हो तुम
अच्छा अब ये तो बतलाओ
कैसे अपने जैसे हो तुम
यार सुनो घबराते क्यूँ हो
क्या कुछ ऐसे - वैसे हो तुम
क्या अब अपने साथ नहीं हो
तो फिर जैसे - तैसे हो तुम
ऐशपरस्ती ? तुमसे ? तौबा !!!
मज़दूरी के पैसे हो तुम

000

आपसे नज़दीकियाँ हैं
इसलिए तन्हाइयाँ हैं
आसमाँ पर ये सितारे
आपकी रानाइयाँ हैं
आशियाँ है ख़ास तो क्या
बिजलियाँ तो बिजलियाँ हैं
कल जहाँ ऊँचाइयाँ थीं
अब वहाँ गहराइयाँ हैं
आप हैं किस रौशनी में
गुमशुदा परछाइयाँ हैं
कर रही हैं शोर कितना
ये अजब ख़ामोशियाँ हैं
सुन रहे हैं लोग जिनको
आपकी सरगोशियाँ हैं

000

विज्ञान व्रत
एन - 138, सैक्टर - 25,
नोएडा - 201301
मोबाइल- 9810224571
ईमेल- vigyanvrat@gmail.com

कविताएँ

खेमकरण 'सोमन' की कविताएँ

चिड़िया जैसी दृष्टि

शीशे की तरह कई टुकड़ों में टूट-बँटकर
करुण विलाप करता रहा मन-
मेरे अंदर का आकाश
आग
वायु
जल
और धरती भी
सब कुछ
बहता रहा मेरी आँखों से धीरे-धीरे
तभी एक चिड़िया ने कहा
मेरे कान में-
यहाँ भी बड़ी भूल की सखा !
अपना दु:ख-भार हल्का करने के लिए
जो कंधा चुना तुमने
खेद है-
वह कंधा भी देखना चाहता है तुमको
रोते हुए-
दु:ख में सदा इसी तरह टूटा हुआ-
दर्पण की तरह कई टुकड़ों में
मैंने पाया
सच कह रही थी चिड़िया
जब मैं घुसा सच के द्वार में
निडर-बेहिचक
उस दिन
कई दीप जले मेरे अंदर-बाहर
चिड़िया जैसी दृष्टि पाकर।
000

थल-मुवानी जिला-पिथौरागढ़ का पानी

जब पहली बार मिले
तब कहा उन्होंने मेरे कान में-
तुम्हें लग गया है-
थल-मुवानी जिला-पिथौरागढ़ का पानी
ज़रूर... पूर्वी रामगंगा नदी के साथ
तुम कर रहे हो खूब-खूब यात्राएँ
खूब बाँच रहे हो कथा-कहानी जनजीवन
फिर दूसरी बार कहा उन्होंने-
अब यहाँ आकर-
तुम्हें लग गया है मानिला का पानी भी
देखो... क्या मानिला की तरह हरे-भरे लग रहे हो!
एक-दो बार आया हूँ मैं भी यहाँ पर,
बहुत अच्छी जगह है पर समझ नहीं आता-
अंग्रेज़ों ने अपने समय में इसे-
क्यों डाला होगा रिजेक्शन लिस्ट में ?
बहरहाल... घूमना ज़रूर मानिला शक्तिपीठ
इसी वर्ष स्थानांतरित होकर मैं चला गया
मानिला से पश्चिमी रामगंगा नदी के किनारे
फिर एक दिन चिट्ठी मिली उनकी-
तुम्हारी बिलकुल तरोताज़ा फ़ोटो देख रहा हूँ
वाट्सअप, फेसबुक-इन्स्ट्राग्राम ट्विटर पर-
तुम्हें लग गया है चौखुटिया, जिला-अल्मोड़ा का पानी भी
अब जब मैं
मालधनचौड़, जिला-नैनीताल में हूँ
उनका व्हाट्सअप संदेश आया है-
देखो... क्या चेहरा है जैसे खिला कमल!
जैसे खिले हुए सरसों के फूल,
तुमने अपने मन में उगा लिया है-
यहाँ के तुमरिया डैम में विचरण करते-
साइबेरियन पक्षियों की चहक-महक और उमंग
प्यारे! तुम्हें लग गया है मालधनचौड़ का पानी भी
जियो... लाख-लाख वर्ष जियो
वे जानते थे-
मैंने चुराई उठाई-सँजोई हैं उन्हीं से-
जीवन-जीने की कलाएँ विधाएँ और इच्छाएँ
कि जहाँ भी रहो पानी बनकर सरल-तरल रहो,
ताकि घुल-मिल सको वहाँ के पानी में बेहिसाब
ताकि लग सके पानी को पानी का रंग-ढंग रूप-धूप
हाँ, वे जानते थे-
पत्थर कभी घुलते नहीं पानी में।.
000

जिसने अपने अंदर देखा

जिसने अपने अंदर देखा
एक ने बोझ माना
तो जीवन भार-बोझ लगा,
दूसरे ने खोज माना
तो जीवन वसंत- खोज लगा
एक ने बाहर देखा
जीवन उसे बस... नर्क लगा
दूसरे ने अंदर देखा
उसे बहुत फर्क लगा
जिसने अपने अंदर देखा
बारंबार समंदर देखा।
000

खेमकरण 'सोमन', द्वारा श्री बुलकी साहनी,
प्रथम कुंज, अम्बिका विहार, भूरारानी,
वार्ड-32,रूद्रपुर, जिला-ऊधम सिंह नगर,
उत्तराखण्ड- 263153२
मोबाइल- 9045022156
ईमेल- khemkaransoman07@gmail.com

सुमित दहिया की कविताएँ

महिला दिवस

तुम कहते हो महिला दिवस मनाने के लिए
मगर कैसे समेटोगे
किसी महिला का सम्पूर्ण व्यक्तित्व
केवल एक दिवस में
क्योंकि अस्तित्व दिनों और तारीखों में
समेटा नहीं जा सकता

लेकिन तुम्हारी बेहूदा चालबाज़ियाँ हैं
तुमने भरसक प्रयास किये है
महिला के व्यक्तित्व को समेटने के
विभिन्न माध्यमों से तुमने योजनाबद्ध किया
है अपनी वैचारिक दुर्गंध को

तुम महिला को समेटते हो उस बयान में
जो वह देती है बलात्कार के बाद
बमुश्किल निकलती है उसकी आवाज़
उस संवैधानिक कुर्सी पर बैठे आदमी के
समक्ष
बारीकियों से पूछा जाता है उससे सारा
विवरण
मोटा चश्मा पहने कानून के जानकारों के
बीच
एक नहीं कई, कई बार
जीन्स खींचने से लेकर नोच,खरोंच तक
सब कुछ, विस्तार से सब कुछ

तुम समेटना चाहते हो महिला को
घर की दहलीज़ के अंदर
पिंघलते आँसुओं की करवटों में
रोजनामचे और एफ.आई.आर के मनघड़ंत
शब्दों में

गृहस्थी की उस चीख में
जो हर बार
मात्र उसकी सिसकियाँ दबाने के लिए मारी
जाती है
क्योंकि तुम सहम जाते हो
सत्य का सामना करने की अराजकता से
तुम्हारे विवेक के अनियंत्रित मूल्यांकनों पर
गिरने वाला थूक
हमेशा ही तुम्हें बेचैन रखता है

पहाड़, नदियाँ,
धरती, आसमान,चाँद, तारे,उल्कापिंड और
परमात्मा
इन सभी के अतिरिक्त अंश के रूप मे
विराजमान है महिला
अनेक आधार पर गहरे से गहरे
कैसे समेटा जा सकता है एक दिवस में
जबकि एक लम्हे से सदियों तक का सफर
केवल और केवल उसके मातृत्व की
मुसल्सल यात्रा है।
000

विंड चिट्यर

जब हवा आती है पूरे वेग के साथ
तो एक साथ मुझसे टकराती है
बहुत सारी आकृतियाँ
उलझे उदास चेहरों पर अलग-अलग भाव
और मुद्राएँ बनाए हुए
कुछेक बिल्कुल मौन हो जाती हैं

रात्रि के विश्राम से दिन के संघर्ष तक
कई दफा मुझे सुनना पड़ता है
वह कचरा भी जो ऊपजा है
उनके गोद लिए हुए उधार ज़ेहन से
और कैलेंडर पर रोज़ उगती नई तारीखों से

इस हवा में मुझ तक कभी नहीं पहुँची
फूलों की टूटी हुई पंखुड़ियाँ
या किसी खुशबूदार वृक्ष की महक
मुझ तक पहूँचे तो केवल
उबलते हुए अनचाहे गर्भ
और चुभता हुआ नाबालिग रेत

जो भर गया मेरी आँखों और मुँह में
मैं नहीं निकाल पाया कभी
अपने हिस्से की सिसकियाँ
खुलकर इन आकृतियों और चेहरों के
सामने
जिन्हें हवा बाँधकर निरंतर फेंकती है
मेरी देह पर

अपने शब्दों के चयन से कभी
प्रेम का ऐसा धरातल निर्माण नहीं कर पाया
जिस पर विराजमान हो सके
कोई पूरी निष्ठा और समर्पण के साथ
या फिर मुझे यह भ्रम रहा
कि हमेशा होती है मेरी ग़लती

ऐसा भी संभव है
मैंने पहनी हो
रिश्तों की ऐसी विंड चिट्यर
जो मुझमें नहीं घुसने देती
उस हवा के माध्यम से लाए गए
ठोस कण,
भावनाएँ, विश्वास और प्रेम।
000

सुमित दहिया
हाउस न. 7 सी, मिस्ट होम सोसाइटी
हाइलैंड मार्ग, जीरकपुर 140603
मोहाली ,पंजाब
मोबाइल- 9896351814
ईमेल- dahiyasumit2116@gmail.com

अर्चना गौतम मीरा की कविताएँ

पूर्वाग्रह

एक काउच है
बैठी हूँ आधी सोई
आधी जागी
उन्मीलित
पंखा सरसरा रहा है
खुली खिड़की से
अनवरत चली आ रही है
रश्मियाँ...
मीठी...
डार्क चॉकलेट के
तीखेपन वाली
हिलता हुआ परदा
मुझे प्रेरित सा करता है
कोई अनसुनी
धुन बजाने को
हिलती हुई उँगलियों संग
गुनगुना उठती हैं
मेरी साँसें
धड़कनें मेरे कानों पर
ड्रम बजाती हैं
और वापसी करती हैं पैराशूट से मेरी
नाभी तक
हिंडोले खाती...
और मेरे ज़हन में
महक उठती है
जूही के फूलों सी
खुशी...
मैं ज़िंदा हूँ...
यह बड़ी बात है
गूढ़ बात...
व्यापकता अंगीकृत किए
मेरी बालकनी के
क्रोटन सा
रिपॉटिंग शॉक से
लड़ता
ठाकुर के बाजुओं सरीखी
झूलती दो पत्तियाँ
लटकाए
हवा की
सुन धुन
रुनझुन
हँस रहा है जो
मेरे संग
हम दोनों
अपेक्षित अपनी
परिणति को
जिस परिमिति में हैं...
वहीं वह भी तो है
वह अदृश्य!
000

प्रेम पहेली

प्रेम मेरे लिए
रेखा गणित नहीं रहा
या कि
कोई भी गणित
न विज्ञान न कुछ और
प्रेम मेरे लिए बस प्रेम था
हाँ...
पढ़ा था कभी
कि दूरियाँ प्रेम बढ़ाती हैं
शायद... लेकिन...
बावजूद इसके कि
हम दो गोलार्द्धों में जुड़े
बढ़ा भी आयतन
हमारे मध्य
तरल हमारे मन का
उष्मित-संघनित भी हुआ
और हम कई बार
ठोस भी हुए,
भले जुड़े थे
दो बिंदुओं पर
जाने क्यूँ उत्पन्न न हुआ
प्रेम का वह दबाव
जो पिघला देता
मध्य की भित्ति।
000

पलंगपोश

रंग बिरंगे
कितने ही लच्छे-गोले-धागे ऊन के
नज़्मों की खुशबू संग उतारे हैं
सलाइयों पर
क्रोशिये में पिरोई हैं
कितनी ही गांठें
कितनी बार दूर-दूर से
ढूँढ़ कर लाई हूँ
मोती-सीपी-बटन-
ग्राफ-मोटिफ
और पैटर्न्स
कोशिश और चाहत
की ग़ज़लों में
हर बार
उतनी ही शिद्दत से शुरू किया है
और ख़तम भी
कभी वक्त ने जिताया है
कभी हरा दिया है
सोचती हूँ
किस्मत मेहरबान हो
तो कुछ उधड़नें
सी लूँ
ढेरों कतरनें
यादों की
जो इकठ्ठा हैं
ज़हन के पिटारे में
उनमें जोड़कर
एक इंतहाई - सुकूनदेह
पलंगपोश बनाऊँ किस्सों का
बिछाऊँ नींद की तोशक पर
और बेख़बर हो
आँखें मूंद लूँ।
000

अर्चना गौतम मीरा
मोबाइल- 6200567958
ईमेल- archana.gautam64@gmail.com

मोतीलाल दास की कविताएँ

मज़दूर

वे जहाँ कहीं चले जाते हैं
वहीं छोड़ जाते हैं
शरीर से उठती गंध
वही अंतिम गंध
जिसमें उनके पसीने थे
जिन्होंने उठाया था
तुम्हारे महलों को कंधों पर...

वे जहाँ कहीं भी
चले जाते हैं
अपने साथ ढोते रहते हैं
पसीने का अनवरत बोझ
आख़िर कहाँ होते हैं
ऐसे भी कहीं इंसान
मज़दूरी ही तो है
उनके श्रम का ईमान
000

मेरी इच्छा

मेरी इच्छा होती है
देह के सुस्वाद अंधकार से
हरे मद की तरह
किसी नरम मूँगिया रौशनी को
अपनी बाँहों में भर लूँ

मेरी इच्छा होती है
रात के अंधकार में
शिशिर से भीगे आँख की तरह
झिलमिला रहे तारों को
अपने सीने में टाँक लूँ

खिड़की के भीतर से
मृतकों के धुँधले चेहरे लेकर
किसी श्मशान के सफेद बगुले में
पिरामिड बन जाने की इच्छा
कभी भी नहीं रही है
और नक्षत्रों के पार
स्वाति तारे की गोद से
समुद्र के पेट की तरह
मैं नहीं चाहती थी
अपने आँगन को फाँदना
आख़िर
आकाश के विस्तृत डैनों के भीतर
मैं कोई फूल
सूँघना चाहती थी तो
तीखी धूप की गंध से
मेरा हृदय पृथ्वी को छोड़
सुदूर दिगंत पर कोहरे से लिपटे
खिड़की के भीतर
कोड़ों की पीड़ा से थक हारकर
क्यों नहीं बंद हो जाती है
इच्छाओं की वे सारी धड़कने
जहाँ पौष की चाँदनी में
देह की गंध
तुम्हारे बिस्तर पर भुला चुकी हूँ
मेरी इच्छा
गहरे नीले अत्याचार से
तुम्हारी पृथ्वी को छोड़
गुब्बारे की तरह उड़ चुकी है

जहाँ नरम मूँगिया रौशनी
मेरी ओर बढ़ती चली आ रही है....
000

अरमान

टुकड़ों-टुकड़ों में ज़िंदगी
जीना मैंने सीख ली
कभी फूलों के देख
खिलखिला उठी
कभी कविता पढ़
खूब रो भी ली
एक मुकम्मल ज़िंदगी
कभी पूरी नहीं हुई
कोई कविता लिख नहीं पाई
मेरे अरमानों की
और उम्र बीत गई...
तस्वीर
यह फ़ोटो है
किसी ख़ास पल का
तुम चाहो तो

इसे यादों में रख लो
किसी दिन
अपना पिटारा खोलना
और दिखाना
उन ख़ास पलों को
इन फ़ोटो के संग
यह बतलाना
नहीं भूलना
कि मैं कभी भी
तब्दील न हो सकी
किसी फ़ोटो में...
000

इंसानियत

पागल है वो
तभी तो
इंसानियत की बात करता है
जबकि इस शहर में
इंसान कहाँ बसते हैं
भागदौड़ की ज़िंदगी में
सब शैतान हो गए हैं
चलो आज
उस पागल से मिले
शायद थोड़ा सा
पागलपन
हममें आ जाए....
000

मोतीलाल दास
बिजली लोको शेड, बंडामुंडा, राउरकेला –
770032, ओडिशा
मोबाइल- 9931346271
7978537176
ईमेल- motilalrourkela@gmail.com

नवगीत

गरिमा सक्सेना

उम्मीदों की ज़ंजीर

उम्मीदों की ज़ंजीरों का बढ़ता रोज़ दबाव
डरकर साँसें छोड़ रही हैं अब जीने का ख़्वाब

नए परिंदों की ख़ातिर अब
ऊँचे मानक तय हैं
मानक से कम उड़ पाने पर
उपहासों के भय हैं
घायल मन ले दौड़ रहे हैं
अनचाही सी दौड़ें
वापस मुड़ना भी कब संभव
कैसे रस्ता छोड़ें
छूट रहे हैं कोरे पन्ने
लेकर काला अंत
रोज़ हो रही है साँसों की
असमय बंद किताब

कहो वृक्ष बनने से पहले
पौधे क्यों मुरझाते
अधिक धूप या पानी,
दोनों से ही वे मर जाते
हर पौधे की अपनी
सीमा, ज़रूरतें होती हैं
बिना नेह के सुविधाएँ भी
सिसक-सिसक रोती हैं
औरों से क्षमता की तुलना
भरती है अवसाद
काश कि दुनिया बंद करे
अब यह गणितीय हिसाब
000

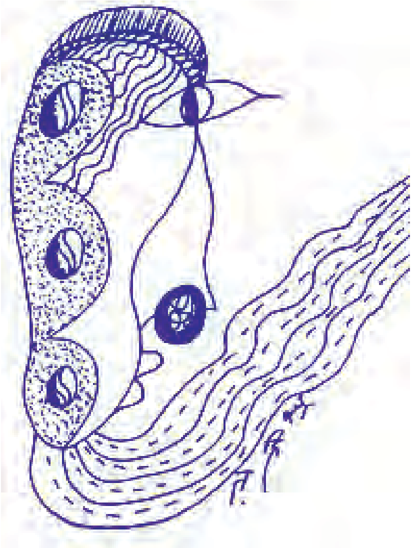

केवल फ़सल नहीं

केवल फ़सल नहीं
खेतों में,
यह रामू का सपना है

लाडो की बारात इसी में
बेटे का एडमीशन है
गिरवी गहनों की लागत है
इसमें क़र्ज़, कमीशन है
सोच रहा है
खड़ा मेड़ पर
इसमें कितना अपना है

मना रहा है धरती माँ सँग
अम्बर का भी साथ मिले
जाग रही हैं रातें कब से
उसके हिस्से धूप खिले
बाकी क्या है
सुख-दुख सब में
राम-राम ही जपना है

मिट्टी से पाँवों का रिश्ता
कंधे से खलिहानों का
आँखों से उम्मीदों का है
जीवन से तूफ़ानों का
इन रिश्तों के
सँग रामू का
जीवन यूँ ही खपना है
000

लैपटॉप

छोड़ो ना लैपटॉप
कि अब तो
बहुत हो चुका काम
आओ
हम तुम साथ बिताएँ
यह प्यारी सी शाम

कंप्यूटर के ग्राफ छोड़
जी लो
स्पंदन ग्राफ
मेरे चेहरे को भी पढ़ लो
मेरे बैटर हाफ़
अपनी बोझिल सी आँखों को
दो थोड़ा आराम

रिमझिम बारिश का मौसम है
साथ पकौड़े चाय
ऋतुएँ भी
रचने को आतुर
कुछ प्रेमिल पर्याय
कुछ पल जी लें आओ
बनकर हम-तुम
राधा-श्याम

अगली-पिछली दोहराएँगे
आओ मन की बात
इक दूजे को सौंपेंगे
मुस्कानों की सौगात
वरना
रेशा- रेशा जीवन
होता रोज़ तमाम
000

गरिमा सक्सेना
मकान संख्या- 212
ए-ब्लॉक, सेंचुरी सरस अपार्टमेंट,
अनंतपुरा रोड,
यलहंका, बैंगलोर,
कर्नाटक-560064
मोबाइल- 7694928448
ईमेल- garimasaxena1990@gmail.com

आख़िरी पन्ना

पढ़ी...? लिखो...!

आप सोच रहे होंगे कि पढ़ो-लिखो, पढ़ी-लिखी जैसे शब्द युग्म तो सुने हैं, लेकिन यह पढ़ी-लिखो क्या बला है। व्याकरण की दृष्टि से तो यह बिलकुल ग़लत है। जी हाँ ग़लत है बिलकुल ग़लत है, व्याकरण की दृष्टि से भी और व्यवहार की दृष्टि से भी। मगर इन दिनों ये शब्द युग्म बहुत ज़्यादा व्यवहार में लाया जा रहा है। इसकी मारक क्षमता का एहसास तब हुआ जब पिछले दिनों एक साहित्य, फ़िल्म, संगीत तथा नाटकों की आलोचना के क्षेत्र में कार्य कर रहे एक आलोचक से बात हुई। उनका कहना था कि वे इन दो शब्दों से परेशान हो चुके हैं। पहला शब्द पढ़ी, उसके बाद बिंदु, बिंदु, बिंदु और उसके बाद प्रश्नवाचक चिह्न। दूसरा शब्द लिखो फिर उसके बाद बिंदु, बिंदु, बिंदु तथा उसके बाद विस्मयादिबोधक चिह्न। यह दोनों शब्द एक साथ नहीं आते हैं, पहले तो पहले वाला शब्द हुक के आकार के प्रश्नवाचक चिह्न को आपके दिमाग में उलझाता हुआ गुज़रता है, और उसके बाद दूसरा प्रकट होता है। उन आलोचक का कहना था कि व्हाट्सएप, मैसेंजर पर किसी परिचित लेखक के संदेश की सूचना मिलती है, तो उसे खोलते हुए भी डर लगता है कि कहीं यही दो शब्द न लिखे हों। पहले शब्द के बाद जो प्रश्नवाचक चिह्न है, यदि उसका उत्तर आपने सकारात्मक दे दिया, तो आप उलझ गए, क्योंकि उसके बाद जो दूसरा शब्द है, वह आदेश का भाव समेटे हुए है। कि कमबख़्त अगर तूने पढ़ ली है, तो लिखता क्यों नहीं है उस पर। जी हाँ आप सही समझ रहे हैं, वे आलोचक बात कर रहे थे, प्राप्त होने वाली पुस्तकों की। वह पुस्तकें जो लेखक की तरफ़ से उनको, मुझको, हम सबको प्राप्त होती हैं। और उसके बाद ही हमारे व्हाट्सएप, मैसेंजर पर यह शब्द चमकने लगते हैं। असल में तो इन शब्दों से पहले एक और शब्द होता है... मिली...? इस शब्द के साथ सबसे बड़ी समस्या यह है कि इसका उत्तर आप चाह कर भी नकारात्मक नहीं दे सकते। क्यों नहीं दे सकते, क्योंकि भेजने वाला पोस्टल सर्विस के पोर्टल पर जाकर ट्रेक कर रहा होता है, जैसे ही पोर्टल पर आपके हाथों में पार्सल पहुँचने की सूचना आती है, वैसे ही आपके पास संदेश आता है- मिली...? आपको उत्तर देना ही है- हाँ मिल गई। उन आलोचक का कहना था कि यह उत्तर देते समय मैं किस संत्रास से गुज़रता हूँ, यह मैं ही जानता हूँ। कुछ मामलों में जहाँ लेखक थोड़ा सलीक़ेदार होता है, वहाँ सकारात्मक उत्तर के बाद एकदम 'पढ़ी...?' शब्द नहीं आता, उसके पहले 'पढ़ो' शब्द आता है, उसके साथ एक हाथ जोड़ने वाला इमोजी लगा हुआ होता है। लेकिन ऐसा हमेशा नहीं होता, अक्सर तो जैसे ही आपने उत्तर दिया 'मिली' वैसे ही दूसरा संदेश आता है 'पढ़ी...?'। संदेश देने वाले को पता नहीं होता है कि दूसरी तरफ़ स्वामी विवेकानंद नहीं हैं, जो किताब के पन्नों को पलटते हुए उसे पढ़ डालते थे। उस तरफ़ एक सामान्य सा इंसान बैठा है, जिसके जीवन में बहुत सारी दूसरी भी परेशानियाँ हैं, जिनके बारे में फ़ैज़ साहब ने कहा है- और भी दुख हैं ज़माने में मोहब्बत के सिवा। ऐसा नहीं है कि आपकी किताब उसके हाथ में आते ही उसकी दुनिया में सब कुछ स्थगित हो गया है, कि अब तो इसे किताब पढ़नी है इसलिए फिलहाल परेशानियाँ स्थगित। ब-क़ौल उन आलोचक के- और भी काम हैं मुझको तेरी पुस्तक के सिवा। आप ऐसा कैसे सोच सकते हैं कि ग्यारह बज कर पाँच मिनट पर आपकी किताब किसी को प्राप्त हुई है और ग्यारह बज कर तीस मिनट पर आपके प्रश्न 'पढ़ी...?' का उत्तर कोई सकारात्मक दे सकता है। ख़ैर जब आप 'पढ़ी...?' का उत्तर सकारात्मक दे देते हैं, तो फिर एक अनवरत सा सिलसिला प्रारंभ हो जाता है 'लिखो...!' का। आपके व्हाट्सएप पर, मैसेंजर पर सोते-जागते एक ही संदेश आपको प्राप्त होता है। आप बाहर निकलते हैं तो आसमान पर, चाँद पर, फूलों पर, रास्ते पर, हर जगह आपको यही लिखा दिखाई देता है 'लिखो...!'। एक दिन आप थक जाते हैं और लिख देते हैं, मुक्त कर देते हैं अपने आप को...। **सादर आपका ही**

पंकज सुबीर

पंकज सुबीर
पी. सी. लैब, शॉप नंबर 3-4-5-6, सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट, बस स्टैंड के सामने, सीहोर, मप्र, 466001
मोबाइल- 9977855399
ईमेल- subeerin@gmail.com

स्ट्रॉबेरी एंटरटेनमेंट क्रिएशंस, शिवना क्रिएशंस तथा ढींगरा फ़ैमिली फ़ाउण्डेशन प्रस्तुत करते हैं

कौन सी ज़मीन अपनी

तुम लोग

Vibhom Swar ● Quarterly ● April-June 2022 ● RNI No. MPHIN/2016/70609 ● ISSN2455-9814

SHIVNA CREATIONS

Dhingra Family Foundation India

Dhingra Family Foundation USA

शिवना क्रिएशंस, स्ट्रॉबेरी एंटरटेनमेंट क्रिएशंस तथा ढींगरा फ़ैमिली फ़ाउण्डेशन इंडिया-अमेरिका की प्रस्तुति

https://youtu.be/-88ScqJBUXg

हमारी जान हिन्दुस्तान

Director **Irfan Khan** Lyrics, Concept **Pankaj Subeer** Producer **Shaharyar Amjad Khan**
Music **Ram Shankar Jajware** Singer **Nazim Ali** DOP **Sanket Kakad** Editing, DI & Colourist **Nilesh Mulye**
Executive Producer **Sunil Bhalerao** Line Producer **Athar Ali** PRO **Akash Mathur**
Sound Track Sonu Rao, **Sound Engineer** Jeon Singh, **Song Recording** A. B. Studio Mumbai
Assistant Director Ejaz Dar, Gaurav Kumar, **Camera Attendant** Raman Verma, **Art & Costume Director** Dinesh Kumar, **Light Equipment** A. B. Cine Lights, **Makeup** Mohammad Irfan, **Transport** Hind Traders
Special Thanks- Shri Mayank Awasthi (IPS) SP, Shri Sameer Yadav ASP, Sushri Kavita RI & Sehore Police

Featuring- Mayank Awasthi, Sameer Yadav, Akhilesh Rai, Anil Paliwal, Kailash Agrawal, Mahendra Singh Khanuja, Umesh Sharma, Sunil Bhalerao, Hitendra Goswami, Pankaj Subeer, Shaharyar Amjad Khan, Rajnandini Purohit, Sachin Purohit, Pankhuri Purohit, Sunny Goswamy, Sunil Perwal, Shivam Goswami, Shivansh Bhalerao, Jitendra Rathore, Gaurav Kumar, Tahir Khan, Dinesh Kumar, Raman Verma, Ejaz Dar, Vansh Kumar, Sameer Dainy, Abid Shaikh "Chhotu Dada", Siddiq Khan, Javed Khan, Irshad Khan, Salman Khan, Rais Khan, Imran Khan, Master Om, Sehore Police - Shashikant Sharma, Arun Patel, Ashok Yadav, Jitendra Singh, Vinay Singh, Lokesh Singh, Pradeep Singh, Chandrbhan singh, Vipin Singh, Rahul Suryvanshi

If Undelivered Please Return to :
P. C. Lab, Shop No. 3-4-5-6, Samrat Complex Basement, Opp. Bus Stand, Sehore, M.P. 466001
Phone 07562-405545, 07562-695918, Mobile 09584425995, 07828313926, 09806162184

स्वत्वधिकारी एवं प्रकाशक पंकज कुमार पुरोहित के लिए पी. सी. लैब, शॉप नं. 3-4-5-6, सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट, बस स्टैंड के सामने, सीहोर, मध्य प्रदेश 466001 से प्रकाशित तथा मुद्रक ज़ुबैर शेख़ द्वारा शाइन प्रिंटर्स, प्लॉट नं. 7, बी-2, क्वालिटी परिक्रमा, इंदिरा प्रेस कॉम्प्लैक्स, ज़ोन 1, एम पी नगर, भोपाल, मध्य प्रदेश 462011 से मुद्रित।